जवानो, राह यह है !

विचार और कर्त्तव्य-प्रेरक निबंध

महात्मा भगवानदीन

पूर्वोदय प्रकाशन
७ दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण

१९५६

●

मूल्य : दो रुपये बारह आने

●

उद्योगशाला प्रेस, किंग्सवे दिल्ली में मुद्रित और पूर्वोदय प्रकाशन,
दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित

क्या, कहां ?

यह पुस्तक

●

हिंदी जगत को महात्मा भगवानदीनजी की लेखनी का परिचय 'जवानो' से मिल गया है। इस कलम में जादू है और शब्दों में चिनगारी। उनका नाम पहले से परिचित न था, लेकिन उनकी कृति 'जवानो!' के देखते-देखते तीन संस्करण निकल गये। जिसने उसे पढ़ा प्रभावित हुए बिना न रह सका। सब ने माना कि युवकों के लिए हिन्दी में उस जोड़ की कदाचित् दूसरी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई।

उन्हीं के कतिपय लेखों का यह दूसरा संग्रह प्रस्तुत करते प्रकाशक को गर्व हो सकता है। 'जवानो, राह यह है!'। यह राह सब को इष्ट है, सब को उपयुक्त है। यह राह आपको अमुक या तमुक बनाने की ओर नहीं ले जाती, वह तो आपको सर्वथा स्वयं बनाने की ओर बढ़ाती है। आदमी खुद हो जाय तो खुदा भी हो जाय। यानी राह वह आदमी को सच्चा इन्सान बनाने की है, कि कुछ उसे न रोक सके और उसकी कोई सम्भावना प्रकाश मे आने से शेष न रह जाय।

भगवानदीनजी महात्मा हैं। भाव उनके मुक्त हैं, उसी प्रकार भाषा भी। चैतन्य और ओज जैसे शब्दों में छलका-सा आता है। महात्मा भी वह परिपाटी के नहीं हैं, प्रकृति के हैं। इसलिये उनकी वाणी मे एक विलक्षण मौलिकता और ताज़गी है।

हिन्दी जगत का सौभाग्य है कि उस वाणी का प्रसाद उसे उपलब्ध हो सका है।

७, दरियागंज, दिल्ली
२१-१-५६

जैनेन्द्र कुमार
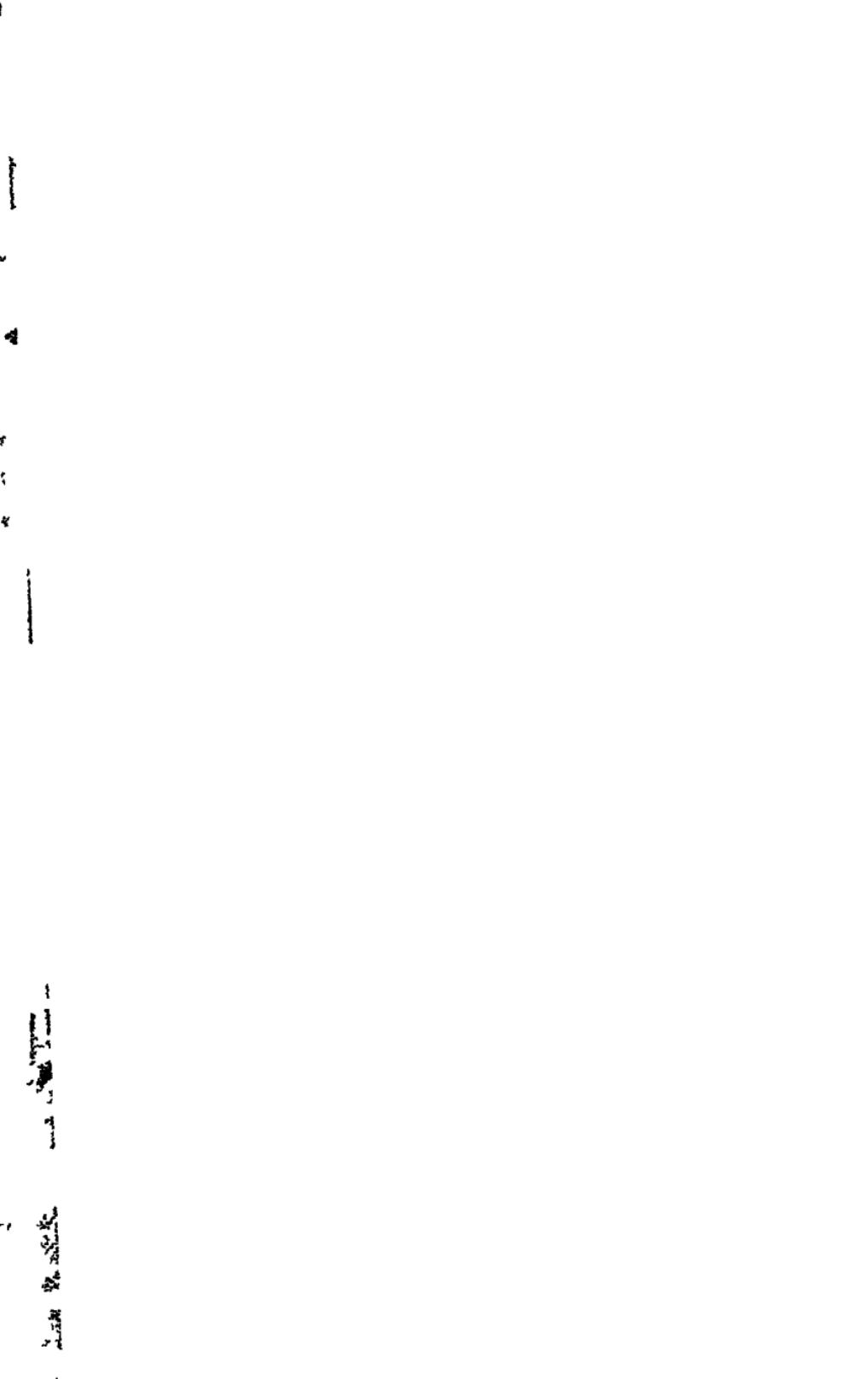
: प्रथम खंड :

जवानो, राह यह है !

: एक :

जवानो, राह यह है !

मैं दुःखी हू मुझे तकलीफ है। हा, है, मुझे मालूम है। तकलीफ होती किसको नहीं ? राजा और रक सबको होती है। इसकी बहुत किस्में होने से धनी-मानी भी नहीं बच पाते। कोई थक कर कराह रहा है, कोई पिटकर सिसकिया ले रहा है, कोई अपना माथा पीट आखों से आसू बहा रहा है; कोई घरेलू झंझटों से बिना पिटे-कुटे, तंग आकर होठ लटकाये बैठा है; कोई अपने भाई-बन्धुओ का लालच का शिकार बनकर अधमरा बना हुआ है, कोई अपने प्राण से प्यारे बच्चों की बदमाशी से दुःखी है और तंग आकर खीज रहा है। यह तो हुए, कोई यों ही दुःखी है कि लोगों ने उसको आज सलाम क्यों नहीं किया। मतलब यह कि दुःख की आंख खोलो और दुख ही दुख देखो।

तो क्या ईश्वर ने दुनिया दुख के लिए बनाई है ?

नहीं।

तो क्या दुख हमने पैदा कर लिया है ?

हरगिज नहीं।

क्या यह दुख दूर किया जा सकता है ? 1349

क्यों नहीं !

और जिन्दगी आराम से बीत सकती है ?

कोशिश करने से जरूर ।

कहीं ऐसा तो नही है कि देह तो दुख भरेगी और धरेगी ही ?

हॉ, यह कुछ-कुछ ठीक है, बिलकुल ठीक नहीं । जो 'कुछ' ठीक है यह भी ना ठीक हो सकता है अगर कोशिश की जाय !

कुछ-कुछ क्यों ठीक है ?

बात असल यह है—मै चाहता हूं हंसना, तुम चाहते हो रोना ; यहा तक तो ठीक काम चल सकता है । अब मैं चाहता हूं मैं हंसू और तुम भी हंसो । दुनिया में दुख नहीं मुश्किले हैं, कठिनाइया हैं । मुश्किलों से दुख का पेड़ उगता है, ठीक है ; पर उसको खाद चाहिये । वह खाद है हमारी अटपटी इच्छाएं ।

मैं छः-सात बरस का था तो अपनी मां की तकलीफ पर मुझे हंसी आती थी । मैं डेरों-मुडेरों, पतंग लूटने के लिये बन्दर की तरह दौड़ता था और मा का दिल जो सहन में लेटी मुझे देखा करती थी, धुक-धुक करता रहता था । मानों मैं नही, वह मुंडेर पर दौड़ रही हों और गिरी जा रही हों । बड़े होकर मुझे उनकी हालत पर तरस आने लगा । और मै समझाने लगा कि मा मैं दौड़ता हूं, तुम क्यो घबराती हो ? पर मै न समझा सका और न समझ सका ।

यह सच है कि मेरी मा मेरे काम से दुखी थी, पर क्या मैं वह काम उसे दुख देने के लिये करता था ? हरगिज नहीं । मेरी तरक्की की जो राह थी, हो सकता है उसमे काटे रहे हों ; पर वह मेरे न चुभ कर मेरी मा को चुभते थे । शायद मेरे भी चुभे हों या चुभते हों, पर जब चुभन ही नही थी तो उसका जिक्र किसलिये ? मेरी मा का सुख इसमें था कि चिराग जलने के बाद मैं बाहर न जाकर उसकी गोद में बैठूं ; मेरा सुख इसमे था कि गोद में न बैठकर रात के बारह एक बजे तक अपने साथियों के साथ खेलूं । यह है दुनिया की मशीन ! यो दो सुख टकरा कर दुख बन जाते हैं ।

थोडा आगे बढ़िये। मैं चाहता हू ध्यान लगाना, नमाज अदा करना; तुम चाहते हो गीत गाना और बाजा बजाना। हम दोनों बेजा नहीं कर रहे, हम दोनों सुखी होना चाहते हैं। अब मै अगर चाहूं कि जो मै करूं वह तुम भी करो या तुम चाहो जो तुम करो, वह मैं भी करूं तो नतीजा होगा टक्कर, यानी कठिनाई, यानी दुख। तकलीफ में मैं नमाज पढ़ता हूँ, खुदगरज नहीं हू। कोई मुझे खुदगरज कहे, कहा करे! तुम गाते बजाते हो, स्वार्थी नहीं हो। मै तुमको स्वार्थी या खुदगरज कह बैठूं, मै बेवकूफ महा-मूरख। हा, यह खुदगर्जी है कि तुम मुझ से वह कराना चाहो जो तुम कर रहे हो!

मैं बारह बरस का था। एक दिन घर से भागा, दूसरे दिन पकड़ लाया गया। मा-बाप ने डाटा, मोहल्ले वालों ने फटकारा; यार दोस्तों ने ताने कसे, कोई बात नहीं। मदरसे पहुचा लगे मास्टर जी फटकारने। जी मे बडा गुस्सा आया, मन मारकर रह गया। कहना चाहता था कि आप ही तो कहते थे बुद्ध जैसे बनो, अब बुद्ध बनने की सोची तो डाट मिली, फटकार मिली, तिरस्कार मिला। बुद्ध तो अपने छोटे बच्चे और मा-बाप सबको छोड़कर भागा था। यह है दुनिया की दुनियादारी करो तो आफत, न करो तो मन मारो।

जवानो, दुख को दूर करने से पहले दिल मे दो बातें बिठा लो। एक—अपनी तरक्की के लिये की हुई ऐसी कोशिशे करने में हमारी गरज किसी को दुःख देना नहीं होता, भले ही फिर उनकी वजह से किसी को दुःख पहुच जाय, खुदगर्जी नहीं होती; अगर लोग उसे खुदगर्जी कहते हैं तो उसे नहीं छोडनी चाहिये। किसी महापुरुष ने ऐसा किया भी नहीं है, और अगर कोई साबित कर दे कि किसी महापुरुष ने ऐसी खुदगर्जी भी छोड़ दी थी, तो मैं तुम से कहता हूं, तुम को उसकी नकल नहीं करनी चाहिये। सच्चा स्वार्थ तरक्की के लिये जरूरी है। नम्बर दो—तुम्हारी तरक्की ही सोसायटी की तरक्की है। जिस स्वार्थ यानी खुदगर्जी का ढोल पीटा जा रहा है, वह तरक्की की राह में पहाड़ बन रही है। उसे उखाड़ फेंकना होगा।

न उखड़े तो लांघ जाना होगा। गुस्सा, गरूर, लालच, फरेब की चंडाल-चौकड़ी से दुनिया को बहुत बड़ा नुक्सान पहुंचा है, सही है, पर वह उसके मुकाबले में कुछ भी नहीं है जो हमारे बेजा तर्क त्याग से हुआ है—दुनिया का हुआ है। खाये तो स्वार्थी, पीयें तो स्वार्थी, लिखे तो स्वार्थी, पिटे तो स्वार्थी; कोई कोई तो मरने में भी तुम्हें स्वार्थी कहने से नहीं झिझकते! इनकी बातों पर कान न दो। अपनी तरक्की में लगे रहने में ही सुख है, भलाई है, कल्याण है—तुम्हारा, तुम्हारे समाज का, देश का, दुनिया का।

हिन्दू देह को आत्मा का घोड़ा मानते हैं। घोड़े को खिलाना-पिलाना, खुदगर्जी नही। मुसलमान जिस्म को काबे की चहारदिवारी मानते हैं और दिल को खुदा का बनाया हुआ काबा। काबे की चहारदिवारी की मरम्मत करना, ठीक रखना, खुदगर्जी नहीं हो सकती। उसको ठीक रखना फर्ज है। दिल, दिमाग, किसी की भी बेपरवाही नुक्सान पहुचाने वाली साबित होती है।

भलाई-बुराई, धर्म अदलते-बदलते रहते हैं। यही हाल दानाई और नादानी का है। आज की बुद्धिमानी कल मूर्खता समझी जायगी। तुम तो नेकी को सामने रख आगे बढ़ते चले जाओ। बढ़ने के जोश को ठंडा न होने दो। वह ठंडा हुआ और तुम गये। जब ढकेलते थे, खींचते थे, अब ठुकराये जाओगे। कुछ करके दिखलाना ही पडेगा नहीं तो बुझे लेम्प की तरह मेज पर से हटा दिये जाओगे।

औरो की तरह तुम भी अपना दूध लेकर जन्मे थे। दात निकलने से पहले दांतों का सामान कुदरत ने जुटा रखा था। तुम देह, मन और आत्मा को लेकर जन्मे। पेट के लिये अन्न जुटाना न्याय है, मन के लिये ज्ञान की खोज करना धर्म है। इनमें से किसी से भी इन्कार करना बीमार पड़ना है, निकम्मा बनना है, मरने की तैयारी करना है। आत्मघात पाप है, गुनाह है। यही तुम्हारा अधिकार है, जन्मसिद्ध अधिकार है, बाकी सब फर्ज़ हैं, कर्तव्य हैं। तुम्हारा तुम्हारे प्रति कर्तव्य ही प्रथम और परम कर्तव्य है। धर्म का यही प्राण है, नैतिकता की यही जान है, समाज का इसी में

कल्याण है। समाज जरूरत पड़ने पर दुधमुंहों यानी अपाहिजों को नहीं पुकारती, कायरों डरपकों को नहीं बुलाती ; बूढे यानी कमजोरों को नहीं चाहती, वह तो जवानो यानी तन्दुरुस्तों, बहादुरों, हिम्मत वालों, जोरदारों को ललकारती है। और वे ही उसकी आवाज पर कूदते भी हैं। तुममें समाज की आवाज पर उछल पड़ने की ताक्त आ न सकेगी, अगर तुमने ऊपर बताये जन्मसिद्ध अधिकारों को पाने मे जरा भी आनाकानी की।

जो ग्रंथ शरीर-बल घटाने की बात करे, वह धर्मग्रंथ नहीं हो सकता। जो मनोबल घटाने की बात कहे वह भी नहीं और जो आत्मबल घटाने की कहे वह तो वैसे भी नहीं। तपस्या का मतलब है मन की बुरी इच्छाओं को दुर्बल बनाना, उनको कुचल डालना, सुखा देना। देह सुखाने वाली तपस्या पाप है, गुनाह है। क्योंकि वह मन की बुरी वासनाओं को मजबूत बनाती है। देह सुखाना यदि तपस्या होती तो सब अब्रह्मचारी, तपस्वी कहलाते। योग भी दुर्बलता का पाठ नहीं पढ़ाता। योगीराज कृष्ण की मूर्ति मन्दिरों मे दुर्बल नही बनाई गई। योगीराज ही नहीं, तपस्वी बुद्ध का बुत भी आजकल के जवानो को जिस्म बनाने का सबक दे सकता है। तपोधर्मा महावीर की प्रतिमा देखकर गामा भी फड़क उठेगा। मनोबल और आत्मबल बढ़ाने के कोई खिलाफ नहीं और तुम तो खिलाफ होते भी क्यों? हा, यह जान लेना चाहिए कि स्वस्थ, तन्दुरुस्त जिस्म मे ही मजबूत मन और पाक आत्मा रहती है। दुर्बल देह स्वार्थी होता है। वह सेवा चाहता है, करता नहीं। जवानों यह गुर अच्छी तरह दिल में बैठा लो।

यह और यही गुर सबसे जरूरी है। इसी से दुख दूर होगा। धर्म का यही निचोड़ है। पहेली का यही हल है। रूढ़ी की खाई को यही पाटेगा। रिवाज के घोडे पर यही सवार करायेगा। भलाइयों का बलिदान नहीं हुआ करता ; बुराइया कुरबान की जाती हैं। त्याग और तर्क उन कानूनों का होता है, जो प्रकृति या कुदरत के कानूनों के खिलाफ शैतान की मदद से मतलबी आदमियों ने गढ़ लिये हैं। प्रकृति के नियमों को त्यागना मूर्खता है। खाना-पीना, पहनना वगैरा प्रकृति के कानून हैं। इनकी तरफ से बेपरवाह

होकर न हम अपने को पा सकते हैं न ईश्वर को ; न हम कुटुम्ब का भला कर सकते हैं, न समाज का। न बाप-दादों का नाम रौशन कर सकते हैं, न गुरुओं-ऋषियों का।

कुदरती कानून को मानकर चलने वाला पक्का त्यागी होता है। दरख्त की तरह जब तुम फल देते हो तो पानी, हवा, रोशनी और खाद के हक़-दार हो। इसको लेने से हिचकना फल देने से इन्कार करना है। दरख्त को किसी ने स्वार्थी नहीं कहा। तुमको कोई खुदग़र्ज क्यों कहेगा ! अगर कोई कही बैठे तो तुम उसकी परवाह ही क्यों करोगे ? तुम अपनी जमीर को यानी अपने में बैठे राम को जवाबदेह हो, किसी और को नहीं। हा, भीतर का तुमको नोचने लगे तब समझो कि तुम जरूर कहीं गलती कर रहे हो। तुम उसी की सुनो और जो वह कहे करो। यह स्वार्थी दुनिया तुम्हें अपनी तरक्की में लगा देख, तुम्हें स्वार्थी कहकर पुकार सकती है। पर तुम उस ओर कान न देना, प्रहलाद और मीरा की याद कर अपने राम में लगे रहना। ध्यान रहे किसी के कामों की नक़ल न करना, किसी के रस्मों-रिवाजों को न अपनाना। बाप-दादों, संतों-ऋषियों, महन्तों व पैगम्बरों की नकल करने की चीज होती है—उनका आत्मोत्साह, उनका काम करने का जोश, उनकी लगन, उनकी निर्भिकता, उनकी बेबाकी। मतलब यह कि अगर तुम अपने मन पर काबू पाने के लिये अपने घर वालों, रिश्तेदारों की मर्जी के खिलाफ करते हो तो तुम गलती तो कोई करते ही नहीं हो, बल्कि सच्चे अर्थों में त्यागी हो, ऊंचे होते जा रहे हो और ठीक कर रहे हो।

दुनिया की भलाई सोचकर आम की गुठली जमीन में दफ़न होती है। मिट्टी-पानी खाकर मोटी होने के लिये नहीं, बल्कि दरख्त बनकर दुनिया को आम खिलाने के लिये। कोई इसको स्वार्थ देख सकता है और ऐसी हालत में पौधे की हालत में ही उसे उखाड़ कर फेंक सकता है। पर इससे वह गुठली का ही नुकसान नहीं करेगा, मगर खुद भी आम खाने से महरूम रहेगा। तुम भी इसी तरह स्वार्थी समझे जाकर लोगों के हाथों तक्लीफ़ पा सकते हो। पर इससे क्या ? आग गीले और सूखे सबको जलाया ही

करती है। इससे दरख्त फल न देकर सूखने की बात थोडे ही तय कर बैठते हैं। तुम भी अपनी तरक्की के रास्ते में आई रुकावटों की परवाह न करते हुए बढ़ते चले जाओ। यकीन रखो, जल्द वह दिन आयगा जब तुम अपनी पूरी ताकत से उन्हीं का भला करते हुए देखे जाओगे जो तुम-को अपना दुश्मन और नुकसान पहुचाने वाला समझते थे। अपनी तरक्की करो, समाज की तरक्की होगी। जवानो, राह यही है !

: दो :

आदमी होता नहीं, बनता है !

●

फारसी की एक कहावत है कि भेड़िये का बच्चा आखिर भेड़िया होता है, भले ही वह आदमी के साथ पला हो। सब जानवरों का यही हाल है। पर समझदार दोपाये आदमी का यह हाल नहीं है।

आदमी, असल में पैदा नहीं होता। पैदा होता है बच्चा, और वह आदमी नहीं होता। घोड़ा, हाथी, बाज, कबूतर, शेर, भेड़िये, साप, बिच्छू सब पैदा होते हैं। क्योंकि वे बचपन से बड़े होने तक वे ही रहते हैं। आदमी गरीब पैदा होकर अमीर बन सकता है, हिन्दू होकर मुसलमान, बढ़ई होकर सन्त, डाकू होकर साधु, इत्यादि। हां, आदमी के बच्चे में आदमी बनने के सारे गुन छिपे रहते हैं। अगर चाहे तो वह आदमी जरूर बन सकता है।

आदमी की जिन्दगी का मकसद क्या है? उसके पैदा होने की क्या गरज है? इस पर सन्त-महंत, नबी-रसूल, ज्ञानी-ध्यानी, पढ़े-लिखे, खूब लिख चुके हैं और लिखते रहते हैं। पर हमारी छोटी राय में आदमी की जिन्दगी का मकसद आदमी बनने के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। कुदरत की किताब मे हमने यही पढ़ा है। विद्वान, सिपाही, व्यापारी या

सेवक बनना, जिन्दगी का मकसद नहीं। आदमी बने बिना विद्वान् बनना बेकार, सिपाही बनना बेसूद, व्यापारी बनना निकम्मा और सेवक बनना बला। सेवक तो तब सेवक न रह कर दास बन जाता है और आदमियत को पाव तले रौंदता भागता चला जाता है। हम पैदा हुए हैं इसलिये कि वह काबलियतें जो हमें आदमी बनाने के लिए मिली हैं उन्हें इस तरीके से अपने अन्दर लगायें, जमायें और सजायें कि हम सचमुच आदमी नजर आने लगें, जंचने लगें और आदमी की तरह रहने लगें। हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, पारसी और ईसाई बनना जिन्दगी का मकसद नहीं, यह तो आदमी के रहने के ढंग हैं। आदमियत से बढ़कर आदमी के लिये प्रकृति की और कोई देन हो ही नहीं सकती। मानवधर्म यानी आदमियत, ऐसा चिराग है जिसे किसी ने जलाया नहीं जो हमेशा से जलता चला आ रहा है। उसी से फिर लोग हिन्दू-मुसलमान धर्म के चिराग जला लेते हैं। मानवधर्म की रोशनी में ही हमारी असली शक्ल साफ-साफ नजर पड़ती है। वह इतनी मनोहर है कि एक बार देखने से उससे आंख हटाने को जी नहीं चाहता। उसी रोशनीको रोशन रखना हमारी जिन्दगी का मकसद है।

शखसियत या व्यक्तित्व आदमियत के दूसरे नाम हैं। पढ़े-लिखों के हाथ पड़कर इन नामों के अनेकों माने हो गये हैं। उन से धोखा होता है। उनसे बचना चाहिये। वे हैं : नामवर शखसीयतें, मिलनसार शखसीयतें, निडर शखसीयतें, मनोहर शखसीयतें इत्यादि। कल ही की बात है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू जेल से छुटकर आये तो इलाहाबाद में इतनी भीड़ हुई कि सड़कों पर तिल रखने को जगह न रह गई। लोगों के मुंह से आप ही निकल पड़ा, 'क्या शखसीयत है!" ठीक है, यह शखसीयत है, पर हमारा मतलब इससे नहीं है। आदमियत कुछ और ही चीज है और वह सब में है।

जड़ की बात यह है कि आदमियत हर आदमी में है और अगर वह पागल नहीं है तो अपनी मेहनत से वह उसे पा सकता है। किसी भी मुलक

को आजाद हवा में रखकर, मामूली शिक्षा-दीक्षा से उसमें आत्मज्ञान कराया जा सकता है। उसकी याददाश्त साफ की जा सकती है, उसमें अपने विचार पैदा किये जा सकते हैं। उसमें जीवट जगाई जा सकती है, मुहब्बत उकेरी जा सकती हैं, लगन उभारी जा सकती है । ऐसा होने पर वह बालक बेशक आदमी बनेगा, पर आजकल के आदमी कहलाने वाले आदमी से बिलकुल न्यारा होगा। एक जिस्म जिसे अपने होने का पता है, जो सोच-विचार सकता है, जिसमें कुछ कर जाने को लगन है, जिसमें प्रेम है ; वही आदमी है। बाकी जिस्म आदमी नामधारी आदमी है। ऊपर के सब गुण जानवर में भी हैं, प्राणीमात्र में हैं ; पर वे बढ़कर या मंझ कर उनको आदमी नहीं बना सकते। किसी अंश में हम सबका भी यही हाल है। आदमी बनने की सब खासियत हममें हैं, पर हम आदमी बनने की कभी नहीं सोचते और यों जानवरों से जा मिलते हैं।

आदमी आप बनने वाला प्राणी है। और जानवर ? वे पैदा होते हैं, बनते नहीं। पैदा तो आदमी भी होता है, पर बनता वह स्वयं है। उसमें उसका अपना जोर भी लगता है। इसी वास्ते जो वह पैदा होता है वह न रहकर वह कुछ का कुछ हो जाता है। बीज के लिहाज से आदमी, जानवर और पेड़ एक हैं । पर पेड़ के उगने और जानवर के पैदा होने में उनका अपना हाथ नहीं रहता। आदमी के पैदा होने में और बढ़ने में उसका अपना हिस्सा है। यही आदमी और प्राणियों में फर्क है। बचा-सका क्या पैदा होता है और क्या हो जाता है ! कबीर को उसकी मां नहीं अपनाती और वह इस काबिल बन जाता है कि दुनिया उसे अपनाने के लिये लाचार होती है ! जिस गांधी को स्कूल की मास्टरी नहीं मिली थी उससे आज के बड़े-बड़े आचार्य शिक्षा के सम्बन्ध में सलाह लेते थे ! उसे जिसने देखा दांत तले उंगली दबाकर रह गया। वह आदमी बन जाने से पहेली बन गया था। आदमियत मांझने पर हर आदमी ऐसा ही निकल आता है। हम कोरी सृष्टि नहीं है, स्रष्टा भी हैं। मखलूक खालिक दोनों हैं। आत्मा हैं, परमात्मा भी। हम जो जन्मे हैं, वही रहें, यह जरूरी नहीं।

हम जो चाहें वह बन सकें, यह जरूरी है । हम पत्थर भी हैं और संगतराश भी । हम पत्थर को मोम नहीं कर सकते, पर मूर्ति कैसी भी गढ़ सकते हैं ! पत्थर की हैसियत से पत्थर से सब गुन हममें हैं और वे साफ दिखाई देते हैं । संगतराश की हैसियत से सब खासियतें हममे हैं, पर वे छिपी हुई हैं, सोई पड़ी हैं । उनको जगाना ही हमारी जिंदगी का मकसद है । अच्छी मूर्ति अच्छा संगतराश ही गढ़ सकता है । अच्छे संगतराश को जगाना होगा । हम जन्म से कुछ हुए हों, पर जियेंगे कर्म से और मरेंगे कर्म से ।

हिरन का बच्चा पैदा हुआ, हवा लगी और भागा । मुर्गी का बच्चा अंडे से निकला और मारी चोंच अपने शिकार पर ! आदमी का 'बच्चा पैदा होकर रोता ही रोता है । असल में वह अपने मा-बाप से मिले हुए स्वभाव पर निर्भर रहना अपनी शान के खिलाफ समझता है । वह अंगूठा चूस कर, या जो उसके मुंह मे आजाय उसे चूस कर मा की चुचो चूसना सीखता है । चूस कर जो दूध पाता है उसे अपनी खोज का नतीजा मानता है । बचपन मे वह मा की बहुत कम परवा करता है । यानी मा को मा की हैसियत से बहुत कम समझता है । काफी बडा होकर न मा का कहना मानता है, न मा की इज्जत करता है । उसको मार पीट भी देता है । लेकिन आदमियत जाग जाने पर वह उसकी पूजा करता है । उसकी खातिर अपनी जान लडा देता है । जानवर ऐसा नहीं करते । मतलब यह कि आदमी का बच्चा मा-बाप से बहुत कम लेता है । यों उसको बहुत दिन बचपन मे गुजारने पडते हैं । वह लिखेगा बिगाड़ेगा, बनायगा मिटायगा ; सियेगा उधेड़ेगा, गिरेगा उठेगा, और ऐसे आगे बढ़ेगा । जानवरों को कुदरत अपने कारीगर-हाथों से ठीक ठीक गढ़ देती हैं । आदमी का बच्चा अपने आपको अपने नौसिखुए हाथों से गढ़ता रहता है और कारीगर बनकर आप ही अपनी भूलों को ठीक करता है । यह तरीका जोखम का जरूर है, पर आदमियत को जो राह गई है वह जोखम के जंगल से होकर गई है । जोखम मे पडने से मन को आनन्द मिलता है । इसलिये देह पर आई हुई तकलीफे खुशी खुशी सह ली जाती हैं, सुख की ओर से बेपरवाही की जाती है ।

आदमी की तरक्की का रास्ता टेढ़ा-मेढा जरूर है, पर है सुहावना। रास्ता भूल जाने पर भटकना भी पड़ता है, घबराहट भी होती है। राह नहीं भी मिलती और मौत भी हो जाती है। हा, एक बात जरूर है कि जहा पहुचना है वहा पहुंचे बिना चैन नहीं मिलता। पड़ाव पर रातें काटी जाती हैं, उनका आनन्द नहीं लिया जाता। इसी तरह आदमी बने बिना दुनिया के सुख, सुख न देकर उलटे दुख देते हैं। आदमी बने बिना आदमी की जगह लेकर सुख, दुख बन जायगा। डाक्टरी, मास्टरी, जजी, गवर्नरी, मिनिस्ट्री, पुरोहिती, सरदारी, साहूकारी, खिदमतगुजारी सब आदमी की जगह हैं। आदमी बनकर ही उन पर आराम मिल सकेगा। नहीं तो ये काटे की तरह चुभेंगी। ये गद्दिया हैं, पर कट-खनी गद्दिया हैं, कटीली गद्दिया हैं। इन पर रुई का गाला ही सुखी रह सकता है, खरबूज-तरबूज जैसा भारी भरकम नहीं। आदमी बनकर आदमी हलका हो जाता है। वह इन गद्दियों पर लोटता फिरता है और इनके अनोखे गुदगुदे पन को बिगड़ने भी नहीं देता। आदमियत के बिना यह दुनिया नरक बन जाती है। आदमी बन जाने पर युद्ध का विच्छू द्वेश के डंक के बिना रह जाता है। वह आदमी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गरीबी का साप असंतोष के जहरीले दात को खो बैठता है। वह आदमी को नहीं डस सकता। तब आदमी को भाग्य की कमिया नहीं खटकती; समाज के अन्याय उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

बाहरी आराम तकलीफ कुछ हैं ही नहीं, यह हमारे कहने का मतलब नहीं है। वे हैं जरूर, पर वे अकेले हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। उन्हें अनादमियत (पशुता) की मदद की जरूरत होती है। उनके होते हुए भी आनन्द मिलता है, मिला है और मिलता रहेगा। हा, ऐसे आदमी दुनिया में कम हैं जो बुरे दिनों की तकलीफ को अपने आप कम कर सकें। ऐसे आदमियों की कमी इस बात का सबूत नहीं है कि सुख आफतों में घिर कर मिल ही नहीं सकता। ऐसे आदमी भी मिल सकते हैं जो रत्ती भर आफत को पहाड़ बना लेते हैं और उनके बोझ से पिच मरते हैं। ये

पिच मरनेवाले देखने में पूरे आदमी, सच्चे धार्मिक, खूब काम में लगे और बड़े-बड़े साधनों के मालिक मिलेंगे। इन भलेमानसों को जिन्दगी की 'अ-आ-ई' भी नहीं आती। जिंदगी की 'अ-आ-ई' है : 'हम अपने पांव पर आप खड़े हैं और हर पल हर घड़ी हम, हम होते जा रहे हैं।' और बातें हमें याद रहें या न रहें, पर यह तो हम कभी भूलते ही नहीं कि आफत से छुटकारा पाने पर हमें यही मालूम होता है कि हम अपने पाव पर आप खड़े हैं। हम हम हैं, हर हालत से हम हैं। इस सीधी-सच्ची बात से कैसे इंकार कर सकते हैं ? हमने देख लिया है, समझ लिया है, कि प्रकृति हमें हम बनाने में हम पर जरा भी दया नहीं करती। होशियार लुहार की तरह बार बार आग में रखती पानी में डुबोती है और हमें नरम को कड़ा बनाती रहती है । इस नियम से बच कर भागने की कोशिश बेसूद। इस नियम को पालने में हम अपना जोर लगा कर ही नफे में रहेंगे। हम आप ही हम बनना चाहकर सुखी रह सकते हैं। अनजाने धीरे-धीरे तो उस ओर खिसक ही रहे हैं। जान बूझ कर बढ़ने से हमारी रफ्तार तेज हो जायगी। आखिर आदमी तो हमको बनना ही है, क्योंकि हम पैदा ही इसलिए हुए हैं।

: २ :

हम आदमी के बच्चे हैं, यों मनुष्य समाज के हाथ के खिलौने हैं।

हमने इस ग्रह पर जन्म लिया है। इसकी सर्दी-गर्मी, इसके पशु-पक्षी, हवा-पानी से हम घिरे हुए हैं। यों दुनिया रूपी मकड़ी के जाले में हम मक्खी बने फंसे हुए हैं।

हम में हम हैं। हम जोर लगा रहे हैं। हम अपनी सी किये जाते हैं यों हम हम हैं।

समाज हमें छोड़ेगा नहीं। दुनिया हमारी खातिर बदलेगी नहीं। हमें हम बनना है। आदमी बनना है। इस ग्रह पर रहने के नाते हममें राम-रावण दोनों का खून रह सकता है । युधिष्ठर-दुर्योधन दोनों हमारे चरित्र

संगठन में सहकारी रह सकते हैं । कान्फू, मुहम्मद, ईसा जैसे संत और अधमाधम नर-नारी सभी का हमारे बनने में कुछ न कुछ हाथ है । फिर भी हममें हमारा बहुत कुछ है । वह हमारा उपादान (असली बीज) है । और खूब बलवान है । और सब तो निमित हैं, कमजोर बाहरी कारण हैं । हमारे हम को हमने ही बनाया है । जिन्दगी इतनी भर ही नहीं है कि हम किस-की औलाद हैं, और किस गृह पर जनमें हैं ! जिन्दगी है कि हम इन दोनों से कैसे निबटें ? समाज मेरे ऊपर गिर कर मुझे गिरादे, मैं अपने आप नहीं गिरूंगा । बिजली गिरे मैं खड़ा हूं । बाढ़ बहाये, मैं अड़ा हूं । तूफान उड़ाये, मैं गड़ा हूं । प्रकृति और समाज दोनों अपने अरमान निकालें, मैं अपनी टेक निभाये चला जाऊंगा । इस जीवट से रहने का नाम है आदमी की तरह रहना या कम से कम आदमियत को आदर्श बनाकर रहना ।

कभी कभी ऐसा मालूम होता है कि हमारा कुल और हमारी परिस्थि-तिया ही सब कुछ हैं और अगर वे हम से अलग करली जावे तो हम कुछ भी न रह जावेंगे ।

चीनी पीले रहेंगे, अमरीकन लाल और हबशी काले ; पंजाबी लम्बे, उड़िया बौने । नागौर की गायें लम्बी-चौड़ी और हजारी बाग की छोटी-दुबली । इस सब से परिस्थितिया ही प्रमुख लगती हैं । पर बात ऐसी है नही । बीस गुणित बीस गज जमीन पर सौ गुणित सौ की कोटी नहीं बन सकती । ठीक है—पर सौ गुणित सौ गज जमीन में लगे बाग को लोग हजारों से आकते हैं और उसी के अन्दर के बीस गुणित बीस गज के ताज महल को करोडो से । हम देह और दिमाग दोनों से बने हैं । पर छोटी देह में छोटा दिमाग रहे यह जरूरी नहीं । छोटी देह में बड़ा दिमाग समा सकता है और हमारा मूल्य बढ़ा सकता है ।

यह ठीक है कि हमारा 'हम' हमारी देह के गमले में लगा हुआ है । पर यह और भी ज्यादा ठीक है कि हमारा 'हम' गमले से बाहर ही फूलता और फलता है । हमारे विचार, हमारी आशाएं, हमारी मुहब्बत : हमारी देह

में नहीं समा पाती। वह तो दीपक के प्रकाश की नाईं जाने कहा-कहा की दौड लगाती हैं। हम, हम तुम और किसी को नहीं देख पाते। जो दीखती है वह देह है। देह हम तुम को इतनी उघाड़ती नहीं जितनी ढंकती है। हम और देह दो चीज होते हुए भी इतने घुलमिल गये हैं कि देह से ही हमको हम-तुम का काम निकालना पड़ता है।

जो हो रहा है हुआ करे। आदमियत तो देह से ऊंची उठती ही है और अपनी सत्ता साफ अलग दिखा देती है। भारत के सत गाधी ने कितनी अच्छी बात कही, 'मै पीटे जाने पर रो सकता हूँ, पर, दोस्तों, उसको देह का धर्म ही मानना, मेरा नहीं।' तलवार लगने पर देह मे खून निकलना अगर जरूरी है तो आखों की ग्रथियों पर दबाव पड़ने पर आसू निकलना भी जरूरी हैं। डर को छोटे बच्चे कभी-कभी बड़ी अच्छी तरह बताते हैं। वे कहते है, 'डर तो नहीं लगता, अम्मा, हा, पेट सिकुड़ा जाता है।'

जोश के लिऐ हिन्दुस्तानी शब्द है 'हुम हुमी।' शायद यह हम-ही हम को घिस कर बना लिया गया है। असल मे हम मे जब हम जाग जाता है तो देह की ओर से बेपरवाही होने लगती है। हम बोलने लगता है: 'हम हम ही हैं।' देह कमजोर रहने से हमारा काम थोडे ही रुकेगा। देह के काम का दायर छोटा है; हम के काम का दायरा निस्सीम। हम काम मे लगकर देह की पर्वाह भी कैसे करे? कभी उस ओर निगाह चली गई तो उसकी सी देखभाल करली। आदमी की जिंदगी अपने आप मे कितनी पूरी है इसका पता आदमी बन जाने पर ही लगता है। देह की गड़बड़ी से आदमी की जिन्दगी मे कोई रुकावट नहीं आने पाती। आखों ने जवाब देकर सूरदास का क्या बिगाड लिया? रानासागा ने एक साथ ही अपने एक हाथ, एक टाग, एक आख, तीनो के इस्तीफे मजूर कर लिये और उसका काम उसी तेजी से चलता रहा। बात असल यह है कि हमारी इस डेढ-दो मन की देह की नकेल, छटाक दो छटाक वजन की पाच-सात गाठों के हाथ मे है। हमारे 'हम' का असर उन गाठों पर जितना पडता

1349

है उतना तन्दुरुस्त देह का नहीं। यों जिसमें हम जाग गया है वह बूढ़ा भी हो तो जवान हो जाता है और जवान बना रहता है ।

पत्थर पर हाथ मारने से हमारे हाथ में चोट लग सकती है, वह फट भी सकता है । पर आदमी के सिर में हलका हाथ जमाने से हम शायद अपनी जान ही खो बैठें, या शायद उल्टे गले लगाकर पुचकार लिये जायें। हमारे हम और हमारी देह में यही फर्क है । कुछ विज्ञानी आदमी को मशीन साबित करने की किशिश में लगे हैं। वे भीष्म की छींक को और उसकी भीष्म-प्रतिज्ञा को एक ही चीज समझते हैं। गाधी के मुंह के दो शब्द 'क्विट इंडिया' (भारत छोड़ो) इंग्लिस्तान के बड़े वजीर की नींद हराम कर देते हैं और उसकी जोर से जोर की छींक से किसी मामूली कानिष्टबल के कान पर भी जूं नही रेंगेगी !

देह को 'हम' समझने से काम चलता नहीं। 'हम' को देह से अलग मानना ही होगा । दो देह नहीं 'लड़ती' दो 'हम' भिड़ते हैं । दो देह आलिंगन नहीं करतीं, दो 'हम' मिलते हैं। 'हम' समझे बिना हम, हम ही नहीं बन सकेंगे। हम 'हम' बने बिना आदमियत से कोसों दूर रहेंगे। हमने देख लिया 'हम' समाज के दबाये नहीं दबता, न दुनिया की तकलीफों में फंस कर आगे बढ़ने से रुकता है। फिर क्यों न उस 'हम' को अपनाया जाय ?

: तीन :

आदमियत की मांग

कुए के मेंढक की कहानी जिन्होंने नहीं सुनी वह ही कुए के मेंढक हैं, ऐसी बात नहीं ; वह भी कुंए के ही मेंढक बने हुए हैं जिन्होंने सुन रखी है। हमें यह कहते जरा भी झिझक नहीं होती कि इस कहानी का गढ़ने वाला भी निरा कुए का मेंढक था!

हम करें क्या ? हम पैदा तो एक माँ के पेट से ही होते हैं, एक ही बाप के नाम से पहचाने जाते हैं; छोटे से एक गाव से अलगाये जाते हैं, मुट्ठीभर आदमियों की एक जात से पुकारे जाते हैं: कुछ विश्वासों और रस्म-रिवाजों वाले एक धर्म से गढे जाते हैं; कुछ मीलों लम्बे-चौड़े मुल्क के नाम से भड़काये जाते हैं। बहुत बड़ी किस्मत वाले हुए और जान लड़ाकर दौड़ लगाई तो पृथ्वी नाम के ग्रह के वासी हो सकते हैं। कौनसी पृथ्वी के ? जो सूरज के मटके में चने के एक दाने की तरह गुम हो सकती है! एक सूरज वाली दुनिया के हिसाब से ही हम कुंए के मेंढक हैं तो अनगिनत सूरज वाली दुनियाओं के हिसाब से तो हम प्याले के मेंढक भी नहीं रह जाते! कुंए के मेंढक को हम समुद्र दिखा सकते हैं पर हमें समुद्र कौन दिखावे ? जो नहीं जैसा है यानी जो आंख, कान, नाक से परे

है यानी बीता हुआ जमाना, वह तक हमको बांधे हुए है ! कुल, नस्ल, गोत, जैसी रस्सियों के जले हुए बट तक हम से तोड़े नहीं टूटते ! सुना है, रस्सी से बंधकर भी दो एक तैरते हैं पर हमें तो कितने ही थैलों में बंद कर कहा जाता है, 'अब करो दुनियावी यात्रा'। और हम हैं कि बंधे-बंधे यात्रा पर निकल पड़ते हैं !

जानदारों में सबसे बढ़िया जानदार हम, जब पैदा होते हैं तो निरे मांस के लूथड़े ! लूथड़े ही सही, पर डाह, डर, लालच, घमड, फरेब के थैलों में तो बन्द न थे ! अपने पाव पर खड़े होते ही समाज की सोहबत से हम आप ही उन थैलों मे जा घुसे। इससे तो मास के लूथड़े ही अच्छे थे। हा, थोडा बड़ा होने पर धर्म की कुछ बातें हमारी आत्मा को कुंए से निकालने के लिए उछल-कूद करती हैं। पर उस उछल-कूद का मतलब होता है कि दुनिया हमारी तरह से उछले-कूदे। खूब ! मानों हम और मेंढकों को अपने कुंए में बुलाकर कुए को समुद्र बना देना चाहते हैं ! ज़रासा तो हमारा भेजा और उसकी नन्ही सी सूझ ! और समझते हैं यह कि सूझ इससे बडी हो ही नहीं सकती ! हां, समुद्र भी तो कुंए से बडा नहीं हो सकता ! यों हम अनन्त का अन्त लाकर, महदूद की हद बाधकर, अपनी राई भर सूझ को पहाड़ जितनी बेवकूफी में बदल डालते हैं। जिसको ढूंढना चाहते थे वह इस पहाड़ की ओट मे हो जाता है। अगर वह पहाड़ चारो तरफ खडा हो गया तो नन्हीं सूझ की चिनगारी से जो धुंधला सा उजाला हुआ था वह और अंधेरे मे बदल जाता है।

हमारा कसूर भी क्या ? हम अपने बाप ही के तो बेटे हैं, अपने बाबा के ही तो पोते हैं ! हमारी रग-रग में उनकी सूझ है तो उनकी हठधर्मी भी। उनकी बोली बोलनी पड़ेगी, उनका सोचा सोचना पड़ेगा ; उनके सबक दोहराने पड़ेंगे, उनके खेल खेलने होंगे, उनके काम करने होंगे ! पेड की तरह हमको वही फूल फुलाने होंगे और वही फल फलाने होंगे ! जब-जब आदमी जीवन को बस में करने का जोर लगाता है, तब-तब उलटा जीवन के बस में आजाता है। उसका भेजा यानी सोचने वाला मालिक खुद

खोपरी के जेलखाने में बंद है और कैदी होकर सोचता है। उसकी रुह का भी यही हाल है। इतिहास गवाह है, तजुरबा पुकार पुकार कह रहा है कि अब तक जो कुछ सोचा गया है या सोचा जा रहा है, सब जकड़े-बंधे दिमाग की सूझ है।

कृष्ण हुए, भगवान हुए, ठीक। पर उनके चल बसने के दिन से आज तक के भगवान वे नहीं थे। यही हाल और मत-महंतों का था। संत आये और गये और न लौटने के लिए गये। पर संतपना आने के लिए जाता है। फूल खिलता और मुरझाता है, फूल खिलते ही रहते हैं। मतलब यह कि इतिहास यह बता सकता है कि आदमी क्या क्या हो गया और कर गया, पर असली और पूरे आदमी की तसवीर वह न खींच सकता है और न कभी खींच सकेगा। जो सचमुच महान है, जो असल असली है, उसका बयान ही नहीं किया जा सकता। उसकी तसवीर ही नहीं खिंच सकती। इतिहास में कहा से वह मिल जायेगा? शेखी मारना बुरी चीज है, पर हम हैं कि शेखी मारे जाते हैं और किसकी? अपनी मंझी हुई आत्मा की यानी कल्चर की! और हमारी यह कल्चर, मंझाई, तहजीब है कितने दिनों की? कुछ हजार बरसों की! इस अनगिनत नरजों वाली दुनिया में, उस वक्त के हिसाब से, जिसका न कितने बीत चुके का पता है और न कितना बीतने को है इस का पता, यह कुछ हजार बरस एक सदी में पलक मारने के बराबर भी नहीं होते! इस मंझन पर, इस तहजीब पर यह उछल कूद!!

सोना मामूली हाथों में होकर जब अपनी बहुत-सी खोट दूर कर चुकता है तब कहीं सुनार की घरिया में जगह पाता है। ठीक इसी तरह आदमी जब अपनी बुराइयों को मामूली संतों की सोहबत में रहकर दूर कर लेता है तब ही वह ईश्वरी दूतों की सोहबत के काबिल होता है। अभी वह इस काबिल हो नहीं हुआ कि उनकी सोहबत का हकदार हो सके। यह सुन कर ताज्जुब न कीजिये कि न अभी राम पैदा हुए और न कृष्ण। वैसे ही बुद्ध और महावीर ने भी जन्म नहीं लिया। दशरथ के बेटे राम, और वासुदेव के

बेटे कृष्ण तथा शुद्धोदन के बेटे बुद्ध और सिद्धार्थ के बेटे महावीर ज़रूर पैदा हुए, पर वे उन गुणों वाले नहीं थे जिन गुणों को हमने अपने पुराणों में बिठा रखे हैं। हो सकता है कि कोई संत उन गुणों वाला पैदा हुआ हो, पर वह पुराण की चीज़ नहीं बन सकता। इतिहास, पुराण में जो है वही सब कुछ है, ऐसी बात नहीं है। इतिहास, पुराण तो उस बड़ी जिन्दगी का जो सब तरफ छाई हुई है और जिसमें सब समा जाते हैं, बहुत छोटा-सा हिस्सा है।

किसी संत को आखिरी संत कह बैठना ऐसे ही है जैसे किसी पेड़ को आखिरी पेड कह बैठना। पेड जो अपने अनगिनत बीज बिखेर चुका है और न जाने वे कब उग खड़े होंगे। किसी संत को आखिरी कहना अपनी बढोतरी को रोकना है, समझे हुए ईश्वर को न समझना है; ईश्वर सदा है और सदा रहेगा इस बात से इन्कार करना है। किसी संत को आखिरी कहना संतपने को रोकना है। संतपने की गाडी में बैठे तुम आगे बढ़ रहे हो यह क्यों भूल जाते हो? पर दुनिया की चाल ही यही है कि जब मुसाफिर को रुकना होता है तो वह गाड़ी को ही रोकता है तभी रुक पाता है। अतः जो किसी संत को आखिरी कहकर संतपने को रोकना चाहता है वह आगे बढ़ने से इन्कार करता है इसलिए ऐसा कहता है।

मैं पन में सब पन है पर उतना ही जितना समा सके। जैसे जुगनू में चमक है पर उतनी ही जितनी उसमें समा सकती है। ठीक इसी तरह हिन्दू धर्म का जैन-धर्म में धर्म है पर उतना ही जितना उसमें समाने की जगह है। पूरा धर्म तो हिन्दू धर्म के बाहर ही है। पूरी आदमियत के लिए आदमी में समाई कहा? वह तो बाहर होगी ही! पूरी आदमियत के बिना भी आदमी तो होगा ही और आदमी ही माना जायगा। असल बात यह है कि आदमी को समझने से, उसका मोल आंक लेने से, आदमियत समझी जा सकती है और उसकी कद्र जानी जा सकती है। पूरी आदमियत न सामने आ सकती है और न उससे आदमी के समझने में कोई मदद मिल सकती है। आदमी—सनातनी, जैन, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई,

इसलामी नहीं बनाया जा सकता। हां, इन धर्मों के किसी एक हिस्से को उसमें भरा जा सकता है ! रामदत्त में, पार्श्वनाथ मे, कौशल्याजन में और मुहम्मद दीन में। जैसे दुनिया के सब धर्मों में धर्म नहीं समा सकता और बहुत कुछ बच रहेगा; ठीक इसी तरह कोई एक धर्म भी उसके मानने वालों में नहीं समा सकता, बहुत सा बचा ही रहेगा। यों कोई भी पूरा धर्मात्मा नहीं बनाया जा सकता। सब धर्मों को एक धर्म मानना तो बड़ी अच्छी बात है पर वैसा हो नही सकता। धर्म को पूरी तरह समझ लेना ही सब धर्मों को समझ लेना हैं। जो पूरे का पूरा कभी समझ मे आ नहीं सकता और यों आदमी की नजर में सब धर्म एक हो नहीं सकते ! आत्मा को अगर हम रोशनी मानकर भी चले, जो सब मे फैल रही है, तो भी हमारा काम नहीं चल सकता; वह रोशनी भी तो जिस्म के घडे में बन्द है; एके का यह अनोखापन हमें मजबूर कर देता है कि हम आदमियत, प्रेम, सत्य आदि गुणों को इतना दबायें कि वह एक में ज्यादा से ज्यादा आ सकें। आदमी से हमारा मतलब होता है आदमी में रहने वाली आत्मा। और वह आत्मा तो असलियत है और असलियत के माने परमात्मा। अब जब आदमी में परमात्मा है तो वह एक बन गया। अब कोई ईश्वर को एक और जगह मानले तो क्या बिगड़ गया ? घर का भेदी यानी दार्शनिक या फिलासफर भले ही ईश्वर को आकाश की तरह सब जगह मौजूद मानता रहे। वह ठीक मानता है, पर उसका मानना भर ही धर्म नहीं है। एक मानने वाला भी ठीक ही मानता है, पर उतना ही धर्म नहीं है। किन्हीं दो आदमियों मे एक-सा ईश्वर तो मिलेगा ही नहीं; एक सा प्रेम, एक सी सचाई, एक सी आदमियत और एक सी दया भी नहीं मिलेगी।

हर आदमी में दो चीजें रहती हैं, एक एकियत और दूसरी खासियत। एकियत का नाम व्यक्तित्व है। एकियत यों बुलाई जाती है जैसे काला आदमी, लम्बा आदमी, लंगड़ा आदमी; बेटा, बाप, औरत, मर्द वगैरह। खासियत यों बुलाई जाती है जैसे ईमानदार, बात का पक्का, दगाबाज, धोखे-

बाज, मिलनसार, गुस्सेबाज वगैरह। आदमी की एकियत या खासियत के अन्दर जो कुछ है वह न हमारे काम का है और न हमारे हाथ लग सकता है। सचाई से कोई फायदा नहीं उठाया जा सकता; वह आदमी की खासियत बनकर ही हमारे काम आ सकती है। यों खासियत सब कुछ सी मालूम होती है। अब खासियत हमको इस तरह भी मिलती है : बुरी, भली और निखरी (पूरी)। निखरी खासियत ही पूरी सचाई है, पूरा प्रेम है, पूरी आदमियत है। आदमी की खासियत के बिना सचाई कमाल को नहीं पहुच सकती। सचाई कभी कमाल को पहुचेगी ऐसी आशा बाधी जा सकती है—पर बाधी ही जा सकती है, वह कमाल को कभी पहुचेगी नही और अगर किसी तरह पहुंच ही गई तो जिस आदमी में वह पहुचेगी वह या तो दुनियादार नहीं रह जायगा या दुनिया से ही चल बसेगा। इससे किसी को निराश नहीं होना चाहिए। इससे तो और भी आशा मे जान पडनी चाहिए और सचाई की कमालियत के लिए कोशिश करनी चाहिए।

सचाई एक खास दर्जे पर पहुंच कर आदमी को देवता में बदल देगी जिसे यूरोप वाले 'सूपर मैन' कहते हैं। वह देवता नाम वाला आदमी कैसा होगा? उसका रूप कल्पना से लेखनी बद्ध किया जा सकता है, पर वैसा करना ठीक नहीं। हर एक आदमी उसकी अपने आप कल्पना करे, यही ठीक है और यही आदमियत की माग है।

: चार :

पाओगे, पिल पड़ो !

पिल पड़ने पर क्या नहीं हो सकता ? पूरी ताकत लगाने से राम, अगर कहीं है, जमीन पर उतार लिया जा सकता है । लफ्ज जोशीले नहीं हैं, नपे-तुले हैं ! हिसाब की बोली में लिखे जा रहे हैं ।

सबूत ?

सोच-समझ कर और सैकड़ों वर्षों की जाच के बाद विज्ञानियों का कहना है, एक अणु अगर अपना पूरा जोर लगाये तो जितने जहाज आज समुद्र में चल रहे हैं, उनके लिये काफी है । अणु अपना पूरा जोर कैसे लगाये, यह हल नहीं हो पारहा है ?

आदमी अपना पूरा जोर कैसे लगाये. इसका हल है । पुराण और इतिहास गवाह हैं कि आदमी अनेकों बार पूरा जोर लगाने की कोशिश कर चुका है, और आज भी कर रहा है । जितना जोर लगाता है, उतना करिश्मा देखने को मिलता है । हर तरफ आज जोर की करामात दिखाई दे रही है ।

बुजुर्गों की खोज है कि आत्मा परम पवित्र है । उन्हीं का कहना है कि देह जड है, उसमें अपवित्रता का ख्याल भी नहीं किया जा सकता । पर

देह और आत्मा दोनों के मेल से बहुत नापाक, नापाक-पाक, पाक-नापाक, पाक और बहुत पाक शखसियतें देखने को मिलती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे अन्दर जो बुराइया हैं, दूर नहीं हो सकतीं क्योंकि हम उन्हीं से बने हुए हैं। हा, यह हो सकता है कि वे मांझकर भलाई बना दी जाये और उनसे भले काम लिये जाये। उन बुराइयों या भलाइयों के हम नाम रखले, गिनती कर लें और किस्मे बनालें, पर वे रहेंगी हमारा हिस्सा ही; फिर चाहे वह डर हो, उत्सुकता हो, अंहकार हो, ज्ञानेच्छा हो, डट जाने की खासियत हो। यह खासियतें ज्यों की त्यों दानव हैं, शैतान हैं; साफ हो जाने पर देवता बन जाती है; फरिशता हो जाती हैं। दानव के रूप में वे काबू से बाहर हो जाती हैं, स्वच्छंद हो जाती हैं; शखसियत को बनने ही नहीं देती, दुनिया में तूफान खड़ा कर देती हैं। समाज के नियमों के भय से हम कभी-कभी उनको मन के एक कोने में पटक देते हैं, पर वे क्या वहा चुपचाप रहती हैं ? अन्तस्तल में बलवा खड़ा कर देती हैं और आदमी की आदमियत को जानवरियत में बदल देती हैं! कभी-न-कभी अच्छे भले आदमी में से ये उबल पड़ती हैं, और समाज को भी पीछे घसीट लेती हैं!

किसने घर मे छोटे बच्चों को खेल छोड़कर, बापको गठरी लाते देख, गठरी देखने के लिये भागते नही देखा? यह अनोखेपन की भावना है किसमे नहीं? बच्चों में वह खुले मुंह दिखाई देती हैं, जवानों में घूंघट काढे और बुढ़ापे में लजीली-शरमीली औरों की आड़ में ताकती मिलती है। वह बुरी चीज नही, भली है, और बड़ी जरूरी है। दूर नहीं की जा सकती और न करनी चाहिये। जो बच्चों में ताक-झांक है, बड़ों मे कान-लगाना है; जरा और बडों में पूछताछ है, जवानों में सचाई की ढूंढ है, जोखम की खोज है; अधेड़ और बूढे विज्ञानियों में वहीं असलियत की तलाश है।

हे अनोखेपन की भावना; तू अजीब है! कड़वी भी लगती है और मीठी तो भली है ही! तुझे डाकू बनाते देर, न साधू बनाते देर। तू नीच से नीच काम करा सकती है और ऊंच से ऊंच। तेरी ज्ञान की प्यास

कभी बुझती ही नहीं ! तू आग में कूदने को तैयार, समुद्र की तह में जाने को तैयार, बरफीली चोटी पर चढ़ने को तैयार ! हम जानते हैं—हम तुझसे नहीं बच सकते, कोई भी नहीं बच सकता और क्यों बचें ? हम भले हैं, तू भली बनकर रहेगी; हम बुरे हैं, तू बुरी बनकर साथ देगी। तेरी दूकान पर नामवरी और बदनामी दोनों बिकती हैं। खरीदे जो जिसका जी चाहे। तेरी दूकान हमारे मन में अटल है। वह न कभी बंद होती है, न उसमें कभी सौदे की कमी पड़ती है, न कभी दूसरी जगह जाती है। हम भी खरीददार अनोखे हैं, बुरा-भला, मामूली सौदा लेते ही रहते हैं ! तेरी ही क्या हमारे अन्दर की सारी दुकानें ही ऐसी हैं। खुली ही रहेंगी ! उनका रोना बेकार है। भलाई की माग होने से वे भलाई के सिवा और सौदा न रखने को मजबूर की जा सकती हैं !

लड़ाई ! यह है तो हममें हमेशा से, पर आजकल तो ऐसा मालूम होता है कि चोटी से एड़ी तक हम उसी के बने हुए हैं। भेड़िया हमें देखकर दाँत तले उंगली दबाता है, चीता आख फाड़ कर रह जाता है, शेर हक्काबक्का हो जाता है, शिकरा दंग रह जाता है; और बाज ! बाज तो शिकार छोड बैठता है और हमारी अनोखी करतूत देखकर गर्दन नीची कर लेता है। दरिन्दे दात और पजे ही लाल करते हैं। पर हम तो सारा जिस्म लाल करने के बाद भी दम नहीं लेते ! लाल-लाल नदी मे गोते लगाकर भी तसल्ली नहीं पाते ! बेशक एकतरफा बात है, पर है ठीक। शेर, चीते, भेड़िये एक दूसरे को भी मारते हैं, आये दिन नहीं। कभी किसी एकाध मे हो गई, हो गई। सौ-सौ बरस की लड़ाई उनके यहा कहा ? लाख-लाख के काड देखने को कहा ? घासखोर पशु तो इतना भी नहीं लड़ते। लड़ना कैसा, वह मिल कर रहना जानते हैं। पेट के लिये लड़ते भी हैं। उसी मारधाड़ में से निकला है आदमी। वह देह मे भी लड़ाकू और मन से भी लड़ाकू। जानवरों में लड़ाई ऊपर-ऊपर की, पर आदमी के वह मन में पहुच कर बहुत गहरी चली गई है। इतिहास से कहीं पहले, कल्पित राम की कल्पित लंका की चढाई में किसी कल्पित

राजा रावण को मार कर बदला लेने की बात आज के लंकावासी आसानी से सोच सकते हैं । न कुछ पर भी युद्ध छिड़ सकता है । गत महायुद्ध और आज के युद्ध इसके प्रमाण हैं । आज की लड़ाई ने हमारे बुजुर्गों की सोची दोजख को बहुत पीछे पटक दिया है । अब कहिये इस लड़ाई को एक स्वर से सब बुरा कहें और यह शोर मचायें कि इसे दुनिया के पर्दे से मिटा देना चाहिये तो क्या बेजा करते हैं ? नुसखा तो बड़ा बढ़िया है, पर है ऐसा ही जैसे कपड़े पर के धब्बे को छुडाने के लिये कपड़े को ही रगड़ कर खत्म कर देना । लड़ाई की भावना के बिना आदमी आदमी न रहकर पत्थर बन जायेगा ; अगर आदमी ही बना रहा तो बुराइयों से लड़ेगा कैसे ? युद्ध को गैरकानूनी कर देने से लाखों के सिर कटना तो बेशक बंद हो जायेगा, पर साथ ही साथ आदमी की चढ़वारी भी रुक जायेगी । निराधार गुस्से, झगड़े, डाह और लड़ बैठने में ही लड़ाई की आत्मा रहती हो, ऐसी बात नहीं है ; वह तो खेल में, कूद-फाद में, जंगलों की सफाई में, पहाड़ों की चढ़ाई में, कठिन कामों में, आग को बुझाने में, बाढ़ से लोगों को बचाने में और बुरे रिवाजों को मिटाने में भी रहती है। लड़ाई की आत्मा का मतलब है–भिड़ जाना, जुट जाना, अपने आप को जोखम में डाल देना ; किसी से पीछे न रहना । मारकाट तो लड़ाई की आत्मा का बिगड़ा हुआ रूप है। बहादुर सूर कहलाते है। सूर फाड़खाऊ जानवर नहीं, घासखोर है। शेर से भिड़ जाये तो शाम भिड़ा दिन निकाल दे । वह हटता नहीं, शेर चाहे तो दिन निकलने या मुर्गा बोलने पर भाग भी जाय । बच्चा भी कभी कभी मुन्ना बच्चा सुन-कर चिढ़ बैठता है और चाहता है कि उसे शेर-बच्चा कहा जाय । उसकी यह भावना सराहनीय है । दुनिया मे पग-पग पर कठिनाइयों का मुकाबला करना है । उनसे भिड़ने के लिये हिम्मत चाहिये, स्थिरता चाहिये ; अगले करने की आदत चाहिये । यह अगर बचपन ही से नहीं आयेगी तो नैतिक लड़ाइयों में कौन जूझेगा ? कुरीतियों को कौन पछाड़ेगा ?

आगरे में स्वामी दयानन्द पुराण-खंडन के दूसरे दिन जब कुरान-

खंडन को चल पड़े और सभा में पहुंच अपने को हिन्दू लठैतों से घिरा पाकर जब वह यह बोले, "स्वामी को लाठियों की रक्षा की जरूरत नहीं। मुसलमान की एक लाठी स्वामी की बात को जितना सच्चा साबित कर देगी; हिन्दुओं की हजार लाठिया उसे हजार गुना झूठा बना देगी।" यह सुनकर एक सूबेदार से नहीं रहा गया और वह उनके कान में फुसफुसा कर कहने ही तो लगा—महाराज, इतनी हिम्मत मैं तो क्या, मेरा जनरल भी लड़ाई के मैदान में नहीं दिखा सकता। सच है, सचाई की लड़ाई में हिम्मत की लाठी काम आती है, बांस की नहीं। हजरत मुहम्मद की जिन्दगी तो नैतिक लड़ाईया जीतने से भरी पटी है। यहां यह कहना बेतुका न होगा कि मुसलमानों का हजरत को आखिरी नबी मानना मेरे जी को भी लगता है। वह यों कि उन्होंने अरब को आजाद किया पर कमान पर तीर नहीं चढ़ाया; लड़ाइया लड़ी, पर तलवार नहीं उठाई। हां, तीर चढ़वाया और तलवार उठवाई, सिर्फ बचाव के लिये। अब उसके बाद नबी कहलाने का हकदार वही हो सकता है जो एक गुलाम मुल्क को आजाद करादे, तलवार न उठाये और न उठाने दे ! उसके बाद एक नबी की जरूरत और रह जायगी जो दुनिया के पर्दे में मार-काट वाली हिम्मत को नेस्तनाबूद करदे, और सिर्फ डटने वाली हिम्मत का ही राज फैला दे। तब हिम्मत तो रहेगी पर नहाई-धोई, साफ सुथरी, हल्की-फुल्की, पर कड़ी इतनी जो टूट कर न दे।

हिम्मत का सम्बन्ध जिस्म की ताकत से रत्ती भर नहीं। हिम्मत, लड़ाई की भावना, चीज ही और है। यह मन की हालतें हैं। इन हालतों में मन पहुंचकर ताकत देने वाली गिलटियों को, जो हारे जिस्म के अन्दर हैं, रस निकालने का हुक्म दे देता है। वे रस निकाल कर जल्दी में जल्दी जिस्म को ताकतवार बना देते हैं।

सबूत ?

जब आप खूब थक जाते हैं, नसें बेकार हो जाती हैं : आप उठ बैठ भी नहीं सकते, तब वह क्या चीज होती है जो आपको जोरदार बनाती

में उलझा लेती है ? देह थक गया है, नहीं लड सकता ; पर मन लड़ता ही रहता है । बड़ी-बड़ी बहस में आप जुट जाते हैं, दुश्मन के सामने झुकजाने की बात पर आपका बदन ऐंठ कर रह जाता है । बड़े-बड़े जोशीले खत लिख जाते हैं । और अगर उस समय कोई भूषण जैसा कवि आ जाय तो जखमों से खून बहते हुए भी घोड़े पर चढ़कर मैदान में जा डट सकते हैं। यह है हिम्मत, यह है लड़ाई की भावना। ताकत से हिम्मत कभी नहीं मिलती। हिम्मत से ताकत मिल सकती है। बात साफ है, जिस्म मन की गठन है। मन जो चाहे उससे करा ले। तीस-तीस दिन के भूखे को चार-चार जवानों से भिड़ादे और हारने न दे! बात की बीमारी से कौन वाकिफ नहीं है ? क्या उसमें यह यह नहीं होता ? हिम्मत भी मन की चीज है। वह बहुत कुछ कर सकती है। याद रहे, थका हुआ जिस्म बुरी हिम्मत के नशे में, ऐसे काम भी कर बैठ सकता है जिससे उसकी जिन्दगी ही खराब हो जाये। बुराई से पैदा होगी ही बुराई !

हां, तो लड़ाई की भावना है तो जरूरी चीज, लेकिन अगर इसे योंही उजड्ड बने रहने दी जाय ; खान से निकाले लोहे की तरह बेडौल से सुडौल न बनाई जाय, तो इसका नतीजा होगा—गजब, मारधाड, खून-खराबा; गुस्सा, लालच, हसद, चिडचिड़ापन, इत्यादि। आदमियत के महल को ढा देने वाले यह पक्के दुश्मन हैं।

डाह जिसमें घर कर लेता है, वह आदमी दिन-रात जलता रहता है। डाह का तभी तो दूसरा नाम जलन है। तपेदिक के कीड़ों से भी ज्यादा जिस्म को खा जाता है गुस्सा, बदले की भावना। दुश्मन को प्यार करने का नुसखा अटपटा सा लगता हो, पर मन को शान्त करने का और नुसखा ही कौन सा है ? दुश्मन न बनाओ ; न रहा जाये और बना ही बैठो, तो बदले की भावना को गढ़ा खोदकर गाड़ दो ! दुश्मन के भले के लिये नहीं, अपने भले के लिये। गुस्से और बदले से ऊपर उठकर ही तुम दुश्मन को जीत सकोगे। यह बात लड़ाई की बोली में भी उतनी ही ठीक है, जितनी भलाई की बोली में । गुस्से और बदले

पाओगे, पिल पड़ो !]

की आग जिस्म को जलाती है, घुलाती है । यह तुमको दुश्मन के पास पड़ने की बात नहीं बताई जा रही है। यह तुम्हारी हिम्मत को वज्र जैसा कड़ा बनाने की बात कही जा रही है । तुम 'बदले की आग' के खाते, दुश्मन के नाम रकमों पर रकमें डाले जाओ, अदा तो होनी नहीं ; पछताओगे, सिर पीटोगे । फायदा ?

पाओगे, पिल पड़ो ! (२)

●

एक सज्जन मेरे पास आये और अपने एक वकील भाई की गैरइन्साफी का जिक्र करने लगे। यह भी बोले कि सब कुछ सहता हुआ भी उनकी सेवा कर रहा हूं, पर मन से बदले की आग नहीं बुझती क्योंकि मैं सचाई पर हू और झूठ उनकी तरफ है। मै बोला—आपकी दुश्मनी ठीक, पर यह ठीक तो आपके मन, मस्तक, तन, सब को ना-ठीक किये हुये है। आप पीले पड़ गये, चेहरा खुश्क है, बात मुंह से ठीक नहीं निकलती ; यह तो उस ठीक से कहीं टोटे की बात है! फेंकिये उस ठीक दुश्मनी को और अपनाइये ना-ठीक दोस्ती और भाईचारे को। वे मान गये। और छोटे भाई को बेटे की तरह समझने लगे।

लड़ाई की भावना के दुखदायी परिणाम घर-घर में देखने को मिल सकते हैं। बूते से बाहर होकर यह आदमी को अंधा बना देती है। लालच के साथ मिलकर तो यह प्रलय मचा देती है। बदले में बदल कर तो यह यों ब्कारती है "सबसे मीठा घूंट दुश्मन के खून का घूंट।" बचपन मे जागी हुई तो यह गजब करती है—ऊंचे मनोभावों को दबा देती है, नाते-रिश्ते को खत्म कर देती है, जिन्दगी के सारे नक्शों को ही बदल देती है ; आदमी को जानवर से गया गुजरा बना देती है!

लड़ाई की भावना निकाली तो जा सकती नहीं, दबाई भी नहीं जानी चाहिये। उसका तो संस्कार ही होना चाहिये। दबाये जाने से नतीजे होंगे—बच्चा बड़ा होकर उदासीन और निकम्मा हो जायगा, या दबानेवाले से बदला लेने मे कोई कसर न रखेगा ; मुंह से बदनाम करेगा, लिखकर दिल ठंडा करेगा ; खुद बदनाम होकर बदनाम करेगा ! खुलकर लड़ने के काबिल तो वह रह ही न गया होगा। कोरे नैतिक उपदेश इस काम में कामयाब नहीं हो सकते। गुस्सा, बदले की भावना, डाह, बुरी चीजें हैं। इतना ही नहीं, यह तो हममें जड़ जमाकर बैठ जाते हैं, और हमें ही खाते रहते हैं। लाखों दोस्त होते हुए भी एक दुश्मन दिल से नहीं भागता, सिर से नहीं उतरता ! जब देखो, तब वही सामने ! दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते उसी का ख्याल ! इतनी याद तो मजनूं को लैला की, राँझे को हीर की, यूसुफ को जलीखा की भी न आती होगी ! दुश्मन बसाना क्या हुआ, रोग बसाना हुआ। अपने दुश्मन आप बनना हुआ। किसी रानी ने अपने एक तजुरबेकार बूढ़े जरनल से शिकायत की कि तुम दुश्मनों का नाश न कर उलटे उन्हें जी से चाहते हो। जनरल बोला, 'महारानीजी आपने ठीक जांचा, पर मैं उनको दोस्त बनाकर दुश्मनों का ही तो नाश कर रहा हू।' नेकी और शुभ भावना की इससे अच्छी मिसाल और क्या हो सकती है ? इसमें शक नहीं कि प्रेम से बढ़कर मर्ज की कोई और दवा नहीं। पर आज लड़ाई की भावना के मानसिक रोग मे इसकी भी नहीं चल रही !

असल में गुस्सा, बदमिजाजी, बदले की भावना, डाह, सबके सब हमारी बुलन्द-हिम्मती के विकार हैं। उसका गलत इस्तेमाल हैं। यही बुलन्द-हिम्मती ठीक इस्तेमाल से आदमी को देवता बना देती है, और उसके चाल-चलन को चार चान्द लगा देती है। थोडे शब्दों मे लड़ाई की भावना शोधी जा सकती है। इसका इत्र निकाला जा सकता है। इत्र में भुन्डापन न रहेगा और उसके बिगड़ने का डर दूर हो जायगा ; सुगन्ध और भी तेज हो जायगी ; अगर इसे आत्म-सुधार के भभके में टपकाया जाय और

समाज-सुधार की मथानी से मथा जाय। यह काम कम नहीं है। लड़ाई लड़ने से लड़ाई रोकने में ज्यादा जोर लगाना पड़ता है। कृष्ण भगवान लड़ाई रोकने में असफल रहे। काम मुश्किल भी था। कोशिश जरूर की। यह न हो सका तो छोटा काम लड़ाई का ही उठाया। नतीजा हुआ उनके प्यारे शिष्य का डाकुओं से लूटे जाना और खुद का एक न-कुछ आदमी के तीर से खत्म होना! यह जीत थी कि हार? भगवती सीता में, मेरी राय में, लड़ाई की भावना इत्र बन चुकी थी, उन्हें लड़ने की जरूरत नहीं थी। वे बिना लड़े रावण के फंदे से निकल सकती थीं। पर राम तो उनके बिना विकल थे। वे न मालूम अपने को क्या समझते थे। पुराण-लेखक जिस सीता को आग से जिन्दा निकाल सकते हैं, रावण के फंदे से नहीं छुड़ा सकते थे! पर वह सब के सब थे राम-भक्त! वे सीता के यश को राम के हाथ में दे गये हैं। सीता ने आत्मबल से अपने आप छूटकर जितना नारी-जगत का भला किया होता, उतना ही राम ने बेमतलब बीच में पड़कर अपने बाहु-बल से उनको छुड़ाकर, नारी-जगत का नुकसान किया है। उसका भोग वह आजतक भोग रही है। रूस की नारी उठी है, पर राम के पद-चिन्हों पर। सीता के पद-चिन्ह तो बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और मैथिलीशरण ने इतने गुम कर दिये हैं कि वे ढूढ़े नहीं मिलते। सीता के पद-चिह्न, लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, चान्द बीबी को भी नहीं मिले। सीता के पगों की धूल का कोई कण अगर मिला तो मीरा को। यह ठीक है कि जिसमें लड़ने की हिम्मत नहीं, वह कमजोर है। पर लड़ने में मारना-काटना कहा से आगया? आख लड़कर जन्म भर की मित्र बन जाती है, फूट नहीं जाती! फुटबाल के खेल में दोनों दल जान लड़ा देते हैं पर किसी को खुरसट भी नहीं आती! कुश्ती की भिड़न्त में दोनों के चेहरे खिलखिलाते रहते हैं; गदी चीज पसीना निकल आता है, कीमती खून की एक बूंद भी नहीं गिरती! इसी का नाम है युद्ध, लड़ाई।

लड़ाई सीखो कबीर से। जिसने पैदा होने के दिन से लड़ना शुरू कर दिया। मा ने कहा "मर" वह बोला मैं नहीं मरता और नहीं मरा।

गुरु ने कहा—मैं तुझे चेला नहीं बनाता। बोला, बनाना पड़ेगा और बनाना पड़ा। कबीर की सुनो

> माला लक्कड़, ठाकुर पत्थर, सिगरे तीरथ पानी।
> राम कृष्ण मरते देखे, चारों वेद कहानी॥

यह जनगलों की बोली नहीं है तो किस की है? कौन, जिसकी पीठ पर अकबर था, इतना साफ कहने की हिम्मत कर सका है? इसमें लड़ाई है और खुली लड़ाई है। पर प्रेम की लड़ाई है, भलाई की लड़ाई है। बेगुनाह मरने से कोई शहीद नहीं होता; नहीं तो सब बकरे शहीद कहलाते! धर्म के नाम पर मरने से भी कोई शहीद नहीं होता; सोची हुई लड़ाई की भावना से मरने वाला ही शहीद होता है। जैसे गांधी, ईसा, हुसेन।

जिसमें लड़ाई की भावना नहीं वह कमजोर है, उसका जन्म बेकार। बड़ा वह बन नहीं सकता, छोटे रहने में चैन नहीं! लड़ने का दम अगर तुममें नहीं है तो तुम्हारी सूझ तुम्हीं में मर जायगी। तुम्हारी दौड़-धूप कहीं मैदान न पायेगी। तुम्हारी अन्दर की बीमारी तुम्हें खा जायगी। तुम्हारी आत्मा कभी सत्य की खोज न पायगी। कष्ट को तुम हंस के बरदाश्त न कर सकोगे, और गृहस्थ की गाड़ी भी इस ऊबड़-खाबड़ दुनिया में तुम से न खिंच पायगी। यहां समझना इतना ही है कि जिन गुणों से हम बने हैं, वह दुधारे की तरह से दो धार वाले हैं। उनमें से किसी एक गुण को भी अलग नहीं किया जा सकता। एक धार भोथरी कर देने से तलवार बनाई जा सकती है। दूसरी धार से काम करने में कोई हर्ज न होगा। लड़ाई नहीं रुकेगी। आज के सच्चे सत्याग्रही सब लड़ाके और अहिंसा लड़ाके हैं। वे नैतिक और आत्मिक युद्ध में लगे हुए हैं; सिर काटने और कटवाने के व्यापार में नहीं। बड़े-बड़े महारथी कह गये हैं कि काम और क्रोध को जीतना सौ लड़ाइयां जीतने से भी कहीं ज्यादा मुश्किल काम है। पिल पड़ो, यह भी हो जायगा।

बैल और कछुआ बनावट में एक दूसरे से बिलकुल उलटे हैं। बैल के जिस्म पर कहीं मक्खी भी बैठ जाय तो उसको तुरन्त पता लग जाता

है। वह उस हिस्से को हिलाकर मक्खी को उड़ा देता है। कछुए की पीठ पर आप पत्थर बरसाते रहिये वह अपने हाथ-पांव और गर्दन अदर किये टस से मस न होगा। मानो किले में बैठा हो। अब तक प्राणी जहा तक पहुंच पाया है, वहा से यह दो अलग-अलग साख हो गई। यानी एक वह प्राणी जिनका ढाचा बाहर है और नसे अन्दर—जैसे कछुआ। दूसरे वह प्राणी जिनका ढांचा अन्दर है और नसें बाहर। यह नसों को बाहर रखने का तजुरबा बड़ा खतरनाक है, पर प्राणी ने वैसा किया! बाहर नसों वाले प्राणियो में सब से श्रेष्ठ आदमी है। इसीलिये इसमें इन्द्रिय जागरूकता (Sensitiveness) बहुत ज्यादा है। हमारे मनोभावों की जड़ यहीं मौजूद है। कुछ ऋषियों के अनुसार प्राणी पहले छूकर, फिर चख, सूंघ, देख और सुनकर मानना सीखा; मन इसके कहीं बहुत बाद उसे मिला।

यों हम इन्द्रिय-जागरूक ज्यादा हैं। इस ताकत से हमें कुछ न कुछ काम लेते रहना होगा। यह कमजोर पड़ी और हमारा दिमाग ठस हुआ। यह गई और हम आदमियत से गये। शराब को जभी तो बहुत खराब कहते है। शराब को क्यों, सभी नशीली चीजों को। वे हमारी इस जागरूकता को बहुत कम कर देती हैं। क्लोरोफार्म को तो सब लोग जानते ही हैं। वह भी एक किस्म की बहुत तेज शराब है। यह जागरूकता सृष्टि की जड़ है। इस ताकत को बुरा कहना आदमी की शान को बट्टा लगाना है। भावुक जीवन की जननी होने के नाते यह हमारी है। इसका अच्छा और बुरा इस्तेमाल हमारे हाथ में है। इसके दुरुपयोग से आदमी चिड़चिड़ा, हठी, जल्दी बिगड़ बैठने वाला, न कुछ में रुठ जाने वाला, बन जाता है। ऐसा आदमी जहां रहता है, वहीं नाखुश रहता है। औरों के लिये भी बवालेजान बन जाता है। इसी का अच्छा इस्तेमाल बहुत शान्ति देने वाला होता है। अच्छी से अच्छी चीज कैसे बुरी से बुरी बनाई जा सकती है, यह इस शक्ति के अच्छे और बुरे उपयोग में देखने को मिल सकेगा। अपनी जांच के लिये अन्दर दाखिल होने का यही फाटक है।

आप किस बात पर क्यों चिढ़ते हैं, यह जानने से ही आपको अपनी कमजोरी का पता लग जायगा। आप किस बात पर क्यों बिगड़ बैठते हैं, यह सोचिये और अपनी गलती जानिये।

किसी की बढ़ोतरी देख कर आपके दिल को धक्का-सा लगता है, आप में डाह काम कर रही है। डाह की आग में जल कर आप उनका क्या बिगाड़ सकते हैं? किसी के सलाम न करने पर आप बिगड बैठते हैं; घमन्ड आप में बढ गया है, और हदसे बाहर होता जाता है। अपने घमन्ड के रावण को राम के पाले पड़ने से पहले ही रोकिये, इसी मे भलाई है। आप कभी कभी इस बिना पर एक काम को बुरा कहते हैं और रोकना चाहते हैं क्योंकि वह काम आपके द्वारा शुरु न होकर किसी दूसरे से हुआ है। यह जागरूकता का बुरा इस्तेमाल है। यह बात भले ही टेढ़ी-सी जंचती हो, पर है ठीक—आप चिड़चिडे बनिये पर बनिये भलाई के लिये।

कैसे?

आपको चिढ आनी चाहिये इस बात पर कि उम्र जा रही है और मैं अपने से कम उम्र वालों से भी पीछे रह गया। सादी को चालीस बरस की उम्र में चिढ उठी—"हैं! मैं बारह बरस के लड़कों जितना भी पढना नहीं जानता" वह जुट ही तो गया और कुछ दिनों में ही 'गुलिस्तां' 'बोस्तां' जैसी किताबे तैयार करके दे दीं। यह इन्द्रिय-जागरूकता वह गुण है जिससे बड़प्पन पहचाना जाता है, अपनाया जाता है और उपयोग किया जाता है। डाह इसी जागरूकता का उलटा रूप है। यह कमबख्त बड़प्पन को लतियाती है, पास नहीं फटकने देती, क्योंकि पहचानती नहीं! डाह के फन्दे में फंस कर आदमी बड़ों की बेकदरी करता है। जिस जीने से चढना चाहता है, उसी को गिरा कर तोडता है! तोड़ी-मरोड़ी जागरूकता डाह में ढलकर, गुस्से या चिड़-चिड़ेपन में फूट निकलती है। मन के स्वस्थ होने की पहचान तो यही है कि वह औरों की बढवारी में आनन्द माने। गोल कोई करे पर टीम का हरेक खिलाड़ी इतना ही खुश होता है जितना खुद गोल करने से

खुश होता। गुलाब के फूल की गंध जिसे न आये उसको पीनस की बीमारी है। ऊंचा चरित्र जिसे न सुहाये उसका मन अस्वस्थ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से साहित्य ही नहीं उठा, साहित्यिक ऊंचे हो गये। स्वामी राय और विवेकानन्द से अमेरिका में साधुता नहीं पुजी, सारे साधू पुज गये। ऊंचा चरित्र सब की चीज होती है। सब, कुछ न कुछ उससे पाते हैं और खुश होते हैं।

एक सज्जन थे। उनको एक स्त्री से प्रेम था। होनहार; उसने किसी दूसरे से शादी कर ली। उन सज्जन से जब पूछा गया—कहिये क्या हाल है। तो वह बोले, 'एक धक्का तो लगा, क्षण के लिए जलन भी पैदा हुई। पर दो चीज क्यों खोऊं! प्यारी गई, दिल के आराम को उसके साथ क्यों जाने दूं! मैं प्यारी के प्यार करने वाले को ही क्यों न प्यार करने लगूं यानी अपने दिल को? वह प्यारी का दोस्त है और दोस्त का दोस्त तो प्यारा ही होता है।' यह हैं स्वस्थ मन की बातें।

"दुश्मनों को प्यार करो" कविता की पंक्ति नहीं है। सच्चे तजुरुबे का निचोड़ है। दुश्मन से मतलब सचमुच दुश्मन। आदमी की शक्ल वाला दुश्मन। प्यार करने में लक्षणा व्यंजना नाम को नहीं। प्यार करना माने प्यार करना। क्या आदमी कभी इतना ऊंचा उठ पायगा कि आदमी आदमी में कोई अन्तर ही न रह जायगा; कि दुश्मनी और गुस्सा, डाह करने की जगह उलटे प्यार के भावों को पैदा करेगी? बच्चे से गुस्से में मार खा कर भी मा-बाप उसे प्यार करते देखे तो गये हैं। पागल पिता या पति से मार खाकर स्त्रियां उनको प्यार करती पाई गई हैं। यह ठीक है कि जब मानव में सबकी भलाई की भावना इतनी ऊंची हो जायगी तब वह आदमी न रह कर देवता कहलाने लगेगा। उसकी जिन्दगी औरों से कुछ भिन्न ही होगी। उस जीवन का परिणाम कुछ भी हो, जगत एकदम नया हो जायगा। जिस दुनियां में घोर हिंसक, अहिंसा धर्म को देश के बड़े हिस्से में फैला सकते हैं। जिस दुनिया में पक्के शराबी मुल्क भर में शराब न पीने की बात सोच सकते हैं और करने में लग सकते हैं! उस

दुनिया में दुश्मनी को खत्म करने की बात सोची जा सकती है और उसे दूर किया जा सकता है।

कुछ लोग सब कुछ बरदाश्त कर लेंगे, पर अपने पर की गई टीका पर उबल पड़ेंगे। कुछ अपने धर्म के खिलाफ सुन कर आपे से बाहर हो जायेंगे। अगर ऐसे लोगों से दुनिया भर जाये तो सामाजिक जीवन का अंत ही हो जाय! आदमी की तरक्की की नदी रास्ते में ही रुक जाये! छोटेपन की उलझन (Inferiority Complex) से बीमार, असल में, अपनी टीका नहीं सुन सकते, क्योंकि उनका अहंकार कुत्ते की नींद से भी हल्की नींद सोता है! वह अपनी टीका पर कभी भी भौंक सकता है, टांग पकड़ सकता है! सब आदमी ऐसे नहीं होते। आमतौर से लोग अपनी टीका सुन ही लेते हैं, थोड़ी-थोड़ी मान भी लेते हैं; पर वही अपनी तारीफ सुन कर कुप्पा हो जाते!

टीका कैसे करनी चाहिये और कैसे उसे बरदाश्त करनी चाहिये, इस बारे में एक सच्ची बात सुनिये:

दिल्ली के हिन्दू-मुसलिम दंगे के बारे में, गांधीजी के उपवास के दिनों में, एक यूनिटी कान्फ्रेंस दिल्ली में बुलाई गई थी। उसके खत्म होने पर कुछ मनचलों को एक नास्तिक कान्फ्रेंस की सूझी। अगर मैं भूलता नहीं हू तो उसके संयोजकों में पं० सुन्दरलालजी ('भारत में अंग्रेजी राज्य' के लेखक) और श्री शिवप्रसादजी गुप्त (काशी के प्रसिद्ध स्वर्गवासी दानवीर) और उसकी सभानेत्री श्रीमती सरोजनी नायडू थी। उस कान्फ्रेंस में मौ० हजरत मोहानी और डा० भगवानदास भी थे। मसजिद-मंदिर जो बन चुके, बन चुके; आगे न बनाये जायें। ऐसा एक प्रस्ताव आया। उस पर लोग खूब बोले। ईश्वर के न होने पर भी काफी कहा सुना गया। डा० भगवानदास चुपचाप बड़े गौर से सुनते रहे। वे सभा के कानूनी सदर न होने पर भी अपनी उम्र और इलमियत के कारण सबकी निगाहों के केन्द्र बने हुए थे। सब के काफी जोर देने पर वे बोले, "मैं आप सब की राय से बिलकुल इत्तिफाक करता हू। दर हकीकत, खुदा कहा है? कहीं भी नहीं।

न वह दिखाई देता है और न सामने आता है। और साहिबान हवा भी कोई चीज है ; न दिखाई देती है और न सामने आती है। पर कहते यह हैं कि कुछ मिनट हवा न मिले तो आदमी मर जाता है ?" इतना कहकर वे खामोश हो गये। सभानेत्री और संयोजकों को पूछा गया—कहिये ? वे बोले, डा० साहिब जैसे मन की बात साफ-साफ कहने वाले कम ही मिलते हैं। सभा खत्म हो गई।

अपनी टीका पर जोश आना ही चाहिये। उसे दबाने से काम न चलेगा। यह भली चीज है, बुरी नहीं। अपने ऊपर टीका मांगना क्षत्रियों की पहचान है। झूठी टीका से अपनी रक्षा भी करनी होगी और जोश के बिना वह कैसे होगी ? सच्ची टीका से अपना सुधार करना होगा, और जोश के बिना वह कैसे होगा ? इसलिये यह जागरूकता त्यागने की चीज नहीं, मांझने की चीज है, शोधने की चीज है। असल में हममें ऐब तो हैं ही नहीं, गुण ही जंग खाकर ऐब बन गये हैं। जंग लगे गुणों वाला जंगली कहलाता है। मंझे गुणोंवाला मंझा हुआ आदमी—शायस्ता, संस्कृत आदमी कहलाता है।

जो न किसी पर टीका करता है, और न औरों पर की गई टीका सुनता है, वह शायद अपनी टीका पर भड़क उठने का हकदार हो सकता है। पर उस भड़क से अपना नुकसान करने की मूर्खता वह क्यों करने लगा ! वह तो जानता है कि लोग अगर उसमें कोई ऐब बताते हैं और वह उसमें है तो भड़कने की कहा जरूरत है ! उसे तो ऐब पर भड़कना चाहिये और उसे दूर करना चाहिये। अगर वह ऐब उसमें नहीं है तो लोग गलत बात कहकर गलती कर रहे हैं, मैं भड़क कर अपने में भड़कने का ऐब क्यों बढ़ाऊं ?

बुराई खुद कोई चीज नहीं है, भलाई पर लगी जंग है। रगड़ने के लिये पिल पड़ो, भलाई हाथ आ जायगी !

●

: पाच :

समाज का ढांच

आदमी रूढ़ी यानी रीत-रिवाज से चिंपके रह कर जो दुख पाता है, वह उसको सुख जंचता है। अब कहिये, वह रूढ़ी जाल को कैसे तोड़े ?

मैंने हिन्दू धर्म न कभी अपनाया और न ठीक-ठीक जानता हू कि हिन्दू धर्म क्या है, पर हू मै हिन्दू। मैं मुसलमान हू, क्योंकि मै इस्लाम के असूलों से नावाकिफ हूं। मैं वेदों की दुहाई पीटूगा, क्योंकि न मैंने संस्कृत पढ़ी है और न नागरी सीखी है ! मैं कुरान पर जान दे सकता हू, क्योंकि न मैं अरबी जानता हू और न कुरान ही पढ़ सकता हू !

यह हैं जड़ें, जो हमारे हिन्दुस्तानी समाज के दरख्त को सम्भाले हुए है। हमारा सुभीता इसमें है कि हम उस समाजी मशीन का पुर्जा बने रहें, जो कुछ चलते नियमों, कायदों, जरूरतों, रिश्तेदारियों, सम्बन्धों, रस्म और न जाने क्या-क्या को जोड़-तोड़कर खड़ी कर दी गई है। हुकूमत का ढांच समाज के ढाच से हमेशा मिलता जुलता होता है। उसके बुरे भले से भी हमें क्या लेना देना ! वह दुख देता है, दे। बुरा लगता है, लगे। हमें तो उससे चिपके रहना है ! चिपके-चिपके दुख मे रस आने लगता है ! मीठा-मीठा दरद और मीठी-मीठी टीस की बात कौन नहीं जानता !

यह दरद और यह टीस हमारा ध्यान खींचती हैं, पर हम उनको हटाने की कभी नहीं सोचते ! इस हालत को हम 'चिपकाव' कहते हैं और अंग्रेज इसको 'कंज़रवेटिज्म' नाम देते हैं। पंडित लोग इसका अनुवाद 'रूढ़ी पालकता' करते हैं। 'चिपकाव' का यह जटाधारी बरगद का पेड़ हमेशा हरा रहता है। मुरझाना और सूखना तो जानता ही नहीं।

बदलाव यानी बदलते रहना हर चीज और हर प्रानी की जान है। बदलता यह चिपकाव भी है। नई हालतों मे ; नये विचार, नये तरीके चुपके-चुपके अपनाता रहता है। हथौड़ी नई, चोट भी नई होगी। पर रहेगी चोटी, फिर चाहे रहे एक बाल ! वैष्णव धर्म की चोटी पहचान है। गाय के खुर जितनी मोटी चोटी की जगह एक बाल वाली चोटी के आजाने का नाम है बढ़वारी। जिसे पडित लोग कहते हैं प्रगति और जिसे आज के हिन्दुस्तानी, पुरोहित और मुल्ला कहेंगे प्रोग्रेस।

बढ़वारी में टांग जरूरी, वह होनी चाहियें कम से कम दो। समाज की दो टागें हैं—सरकार और पैसा। पैसे के बिना खड़ी रह जाये इकटंगी सरकार ! सरकार के बिना पैसे बेकार ! पैसे को जोखम ही जोखम, बिना चौकीदार ! यों यह दोनों बहुत करीबी रिश्तेदार और नागरों की जिन्दगी का इन ही पर दारोमदार ! सरकार, यानी समाज का सर, यानी पुरोहित, हाकिम और मुनसिफ। पैसा, यानी समाज का धड़ और टाग; अनाज, कपड़ा और मकान। अब समाज पूंजीवादी हो या समाजवादी, पैसे को अपनी जान बचाने के लियें, सरकार का मुंह ताकना पड़ेगा। समाज सरकार सही, पर जब पेट में चूहे कुलबुलाते हों तो सर में, जुयें न रहते, कुलबुली मच उठती है। यानी कोई सरकार बिना पैसा ऐंठ नहीं सकती और ऐंठ ही तो आज की सरकार या सरकारों की शान है ! मतलब यह कि पैसा सरकार को देखता है और सरकार पैसे को।

अब बन ही जायेंगे दो दल—पैसुआ और बेपैसुआ। पैसुए फंसा लेते हैं अपने को जमीन के खन्डर में, कारखानों के चक्कर में, तिजारत के

भॅवर में, साहूकारी के ठठर में। अब बनेंगे पैसुए के दो दल—अड़-पैसुए और छुट-पैसुए। मतलबल यह कि समाज तरह-तरह के विचारों का बनता चला जायेगा और एक विचार की टक्कर दूसरे विचार से होने लगेगी। टक्कर हुई और सरकार की बन आई! तरह-तरह के कानून एहरन पर गढ़ने शुरू हो जायेंगे। सरकार में दलबन्दिया हो जायेंगी और फिर समाज, समाजी जीवन का आनन्द खो बैठेगा। अब उठेगा सुधार का शोर। सुधार, यानी सरकार का बदलाव, सुधार, यानी पैसे का ठीक बंटवारा; यानी कुछ दिन के लिये मार काट, यानी अराजकता। इस अराजकता में से निकलेगा राज, जिसे अंग्रेज कहता है स्टेट।

राज किसे कहते हैं? यह बताना टेढ़ी खीर है। सब अपनी-अपनी हाकते हैं। इसको समझाने में सब ने अपने राग अलापे हैं। पर थोडे में यहा यह समझ लीजिये कि राज (स्टेट) वह राजनीतिक स्वाधीन इकाई है, जो किसी देश की तरफ से, किसी और राज के दबाव के बिना, सब कुछ कर सके।

अब सरकार और पैसा दोनों गिरते-पडते, पनपते रहते हैं; बदलते रहते हैं, विकसते रहते हैं। इस पनपने-बदलने-विकसने का किसी को पता नहीं चलता। इसको कहते हैं उठान या विकास। यह उठान (विकास) होता है तब जब वह लोग, जिनके हाथ में सरकार की बागडोर होती है, काफी समझदार और साफ नीयत हों; उनकी निगाहें अपनी तरफ न रह कर उनकी तरफ हो, जिनकी देख-भाल की जिम्मेदारी उन्होंने अपने सिर ले रखी है। अगर हकूमत के मुखिया वैसे न हुए और समय-समय पर बदलाव न करते रहे, तो नतीजा होगा उफान। उफान यानी क्रांति, रेवोल्यूशन।

उफान क्यो उठते हैं? क्या करना चाहते हैं? जो कुछ करना चाहते हैं उसको किस तरह करना चाहते हैं? इन सवालों के जवाब हैं:—(१) उठने का यह जवाब है कि जब सरकार और पैसे की कड़ी आलोचना होने लगती है और बदलाव होता नहीं है, तब जनता किसी

जोरदार नेता की मातहती में वदलाव का काम अपने हाथ में ले लेती है। जैसा सन् '२० में हिन्दुस्तान में गाधीजी की मातहती में हुआ। (२) क्या चाहने का यह जवाब है कि कोई तहरीक यह बताये बिना उठती ही नहीं कि वह क्या चाहती है ? हर तहरीक की चाह यही होती है कि सरकार अपने रवैये बदले या हट कर औरों को जगह दे। जैसा सन् '४२ में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के जरिये कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार को चुनौती दी। (३) सरकार या सरकारें बदलने में अहिंसा से लेकर घोर हिंसा तक के सब तरीके शामिल हैं। जैसे हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ सत्याग्रह से काम लिया गया और इण्डोनेशिया में डच सरकार के खिलाफ तलवार काम में लाई गई। उफान को अच्छी तरह समझने के लिये जनता और जनराज को समझाना निहायत जरूरी है। यह जनराज की इच्छा ही होती है, जो समाज में जान बनाये रखती है और समाज को समय के मुताबिक बनाये रखने में मदद देती रहती है।

आजकल की तहरीक (आंदोलन) की जड़ मिलेगी ठाकुरशाही में। पैसाशाही ने उसी की जगह ली है। मुग़लराज के बिखरने पर भारत में एक राज का अन्त हो गया। उसी के साथ-साथ तिजारत का शीराजा बिखर गया। सूबे-सूबे में आपाधापी मच गई। सब को अपनी अपनी पड़ गई। एक सरकार न रहने से आने-जाने के साधन, सड़कों-नदियों की संभाल और देखभाल बन्द हो गई, यानी तिजारत की नसें कट गईं। समाज में खलबली मचे-मचे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधे ना सीधे राज संभाल लिया। वह थी विदेशी कम्पनी और नीयत की वेहद खराब। सन् १८५७ में उसको हटना पड़ा और राज संभाला बरतानिया की रानी ने। उसके बाद उसके बेटे पोतों ने। पर विदेशी राज नीयत ठीक न रख सका और सन् '०५ से सन् '४७ तक भारत ने जोर लगा कर उसको भी उखाड़ फेंका। अब कांग्रेस राज की बागडोर संभाले है। राज और पैसे की हालत अब भी जैसी चाहिये वैसी नहीं है। यानी जनराज अभी क़ायम नहीं हो पाया है। उठान या विकास चल रहा है, पर पूरी चाल से

नहीं। अगर यही चाल रही, तो उफान आ सकता है।

कांग्रेस के हाथ में बागडोर थमाई गई, क्योंकि वह धर्म परायन जमात थी। गांधी जी की हत्या, वह भी एक हिंदू ब्राह्मण के हाथों होने के कारण कांग्रेस की धर्म परायणता पर उंगली उठने लगी है। अब अगर वह अपनी नेक नीयती न साबित कर सकी तो ज्यादा दिन न टिक सकेगी। समाज मे जनराज की इच्छा इस तरह समाज को गिरने नहीं देती और अगर गिरने लगे तो उठाती रहती है।

बनिज-व्यापार, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों में भी उफान आते रहते हैं। एक दिन था जब भारत में मिलें देखने को न थीं और भारत अपनी ज़रूरत ही नहीं पूरी करता था, योरुप का नंगापन भी ढकता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज के साथ-साथ इस व्यापार को धक्का लगा और विदेशी मिलों का कपड़ा भारत में आने लगा। इसने भारत के मजदूरों को भूखा मारना शुरू कर दिया। अब विदेशी कपड़े जलाये गये और चरखों-करघों मे फिर से जान डाली गई। गांधीजी की आंख बन्द होते ही देशी मिलों ने जोर पकड़ लिया, पर वह कपड़ा पूरा-पूरा नहीं तैयार कर पा रहीं। उनमें उठान (विकास) होना नामुमकिन। उनमें उफान आयेगा तब ही सब को मनमाना कपड़ा मिल सकेगा!

इसी बनिज-व्यापार ने ठाकुरशाही के किले को ढा दिया। पहले मुल्कों को एक किया, आज सारी दुनिया को एक करने की फ़िकर में है! नया युग खड़ा हुआ, पर खड़ा करने वाले जान तक न पाये! वह खड़ा करने वाले थे—साहूकार, सौदागर, मारवाड़ी, बंजारे और इसी तरह के हिम्मती लोग।

इसी बनिज-व्यापार ने ज़हाजों को भाप से चलवाया, गाड़ियों को सड़क पर लोहे के घोड़ों से खिंचवाया; तेल गाड़िया ईजाद कीं, बिजली से बैल, घोड़े, आदमी, सभी का काम लिया; अब चील गाड़ियों से आसमान के रास्ते व्यापार हो रहा है! दुनिया में अब चप्पा भर जमीन नहीं है, जिसका कोई मालिक न हो। हां, समुन्दर के बड़े बड़े हिस्से हैं, जो सबके

लिए खुले हैं, जिनका कोई मालिक नहीं है या जिनके मालिक सभी हैं !

आज आदमी जो तरक्की कर गया है, उसका सौ दो सौ वर्ष पहले खयाल भी न था। आज की सच्ची बातों ने पुराण की खयाली कथाओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है। पुराणों ने एक कुवेर तैयार किया, पर आज तो कुवेरों का मुहल्ला बसाया जा सकता है ! थोड़े शब्दों में मालदार और भी मालदार हो गया है।

उद्योग-धन्धो ने इकट्ठी चीजे तेयार करके दुनिया मे भूचाल ला दिया है। यह हुआ उद्योग-उफान का युग। शोर तो इस सिद्धात का मचा कि उद्योग धन्धो ने सबको स्वतन्त्र कर दिया, पर इससे फायदा उठा सके सिर्फ पैसुए !

मजदूर, अपैसुए अब नाखुश होने ही थे और हड़ताल का युग आना ही था। मजदूर अब तक न राय दे सकते थे और न अपनी पचायत बना सकते थे। पर अब उनको दोनों हक मिल गये। देश में धन तो इकट्ठा हुआ, पर मजदूरों का खून पसीना एक करके और उन्हीं को पूरा हिस्सा न देकर ! इसका जो नतीजा होना था, हो रहा है और आगे भी होता रहेगा।

पैसा-शास्त्री सबसे पहले खुलकर बोले, "पैसुओं का इस तरह पैसा इकट्ठा करना कानून कुदरत के खिलाफ है।" अहिंसा वादियों को दया को सूझी और उन्होंने भी शोर मचाया कि मिल के मजदूरों को मकान दो, स्कूल बनवाओ, यह करो, वह करो। पंडित और पादरी भी मैदान में आए और बोले कि पैसा इकट्ठा करना धर्म के खिलाफ है। जो जमीन जोते बोये नहीं, उसे उस का मालिक बनने का हक नहीं। इस तरह के बहुत शोर के बाद मार्क्स नामी ऋपि का जन्म हुआ। जिसने समाजवाद को शास्त्र रूप दिया और पूंजीवाद की वह धज्जिया उड़ाई कि पूंजीवादी दांत तले उंगली दबाकर रह गये। मजदूर खिल उठे और उनमें जान आगई। मजदूर को अब पता चला कि उसके और मालदार में एक सी जान है।

ऋषि मार्क्स के चेलों ने ऋषि के सिद्धात को पाला-पोसा, रंग दिया और उसको उफनाऊ समाजवाद बना दिया। जिसने रूस मे उफान कर दिखाया और सारी दुनि'ा के मजदूरों को एक करने की नींव डाल दी! दूसरे देशो के समाजवादी कछुए की चाल चलते रहे। वह उठान को पसन्द करते थे, उफान को नहीं; क्योंकि उनके यहा की सरकारें जल्दी-जल्दी अपना रूप बदलती थीं और यह बतातीं थी कि वह जनता की नौकर हैं। ऐसे समाजवादियो के नाम हैं—फिर विचारू, टालमटोलू, ईसाई समाजवादी आदि। ऐसे तरह तरह के वाद खडे हो गये। वह अलग-अलग होते हुये भी जड़ मे एक हैं। सब यही तो चाहते हैं कि समाज के अधूरे, निकम्मे ढाचे को पूरा किया जाय और उसे सकम्मा बनाया जाय। सबके सब पूंजीवाद के दुश्मन और जनराज के हामी हैं।

इसी सिलसिले मे इकहराटै क्स और सहकारी आन्दोलन उठ खड़े हुए। वह अपने ढंग के अलग ही हैं। यह पू जीवाद के दुश्मन नहीं, यह उसमें सुधार चाहते हैं और उसको चारों तरफ से बाधना चाहते हैं। सहकारी पू जीवाद अपने ढग की अनोखी बला है। कहा जाता है कि इसके जरिए सारा कारबार जनता की बताई रीति से चलेगा। यह कहा तक ठीक है इस पर फिर कभी विचार किया जायगा।

आज पैसा दो दलों मे बंटा हुआ है। पूजीवादियों मे और समाजवादियों मे। दोनों ही यह दावा करते है कि वह जनराज के सिद्धातों को मानते हैं, उन्हीं पर चलते हैं। दोनों चिल्ला-चिल्ला कर बतलाते रहते हैं कि उनका राज जनराज है। जहा नाम को भी जनराज नहीं है, वहां भी जनराज होने की बात कही जाती है! जनराज को मटियामेट करने वाले फाशिज्म और नाजिज्म यानी अकड़वाद और धरपकड़वाद भी जनराज होने का ढोल पीटते हैं! सारे जगत को उसमें शामिल होने की दावत देते हैं!

समाज का ढाचा, इन तरह तरह के विचारों से, ऐसा बन गया है कि वह जरूरत के मुताबिक बदलता तो है, पर समाज को सुखी नहीं बना

पाता। सच्चे लोकराज तक पहुचने में उसे कितनी सदिया लगेंगी, यह ठीक नही बताया जा सकता। लोकराज के लिये जिस लोकशिक्षा की जरूरत है, सरकारें उसे नही दे सकतीं हैं, क्योंकि समाज को जनता पर पूरा भरोसा रहता है, सरकार को नहीं! सरकार जाने अनजाने जनता की समझदारी पर पूरे तौर से विश्वास नही कर पाती, क्योंकि उसकी रगों में राजाओं का का खून है, जो ज्यादातर सुभाव से तानाशाह हुआ करते थे!

समाज के ढांच को समाज ही संभालेगा, तब संभलेगा।

: छ :

जवानो !

●

जवानी न जाने के लिए आती है और न कभी जाती है। वह तो खो दी जाती है या खदेड़ दी जाती है। बालों का सफेद हो जाना, दांतों का गिर जाना, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाना, बुढ़ापा नहीं है। अगर यह तीनों तब्दीलियां बुढ़ापे की निशानी होतीं तो गांधीजी हिन्दुस्तानियों को दूभर न होते! एक बूढे दिल जवान को उनकी जान लेने की बात न सूझती! आदमी की जान लेने की बात डरपोक और कायर ही सोच सकते हैं। डर और कायरता या बुजदिली जवान के पास नहीं फटकती। अगर किसी जवान को उनसे बेजा लगाव है तो फिर वह या तो बच्चा है या बूढे का नाटक कर रहा है या बुढ़ापे की ओर दौड़ लगा रहा है। जिसमें डर नहीं और जिसका कायरता से कुछ मेल-जोल नही उसे अगर कोई बूढा कह बैठे और सिर्फ इस वजह से कि उसके बाल सफेद हैं, उसके दांत गायब हैं और उसके चेहरे पर न तनाव है न चिकनाहट; तो समझना चाहिए कि वह अगर खुद बूढ़ा नहीं है तो उसका दिल अवश्य बूढ़ा हो गया है। भले ही फिर उसके बाल काजल काले हों और बत्तीसी इतनी मजबूत हो कि उनके

बीच में आई सुपारी पलक मारते चूर हो जाती हो ! जापान के अस्सी वर्ष के जरनल नियोगी को, सिपाहियों के सहारे घोड़े पर चढ़ते देख, जब एक सिपाही ने हंसकर उनसे कहा, 'जिस आदमी को घोड़े पर चढ़ने के लिये दो आदमी चाहियें, उसका फौज में आने का क्या काम !' नियोगी ने तब जवाब दिया था, 'हा, घोड़े पर चढ़ने के लिये मुझे दो आदमी चाहियें, पर हजारों ही चाहियें जो मुझे घोड़े से उतार सकें !' कहो तो जवानो, तुम कैसे बूढ़ा कह दोगे, इस अस्सी वर्ष के जवान को !

यह अस्सी या सौ साल कों लम्बाई नहीं है जो किसी को बूढ़ा करती है। यह दिल की कमजोरी है जो बदलने और बदलते रहने से इन्कार करती हैं। पीछे नजर डालना बुरा नही, पर पीछे मुड़ने की सोचना जवानी की बेकदरी करना है। पीछे है क्या ? बचपन है। फिर चाहे वह वह समाज का हो, सन्तों का हो, महतों का हो, धर्मों का हो, राजाओं का हो, राजनेताओं का हो, कलाकारों का हो, साहित्यकारों का हो या किसी का भी हो। अपने बचपन का या अपने बचपन के भले कामों का, जवान अभिमान तो कर सकता है ; पर उन पर उसी तरह अमल करने की नहीं सोच सकता। जो सोचेगा, जवानी उसका साथ छोड कर चल देगी ! इसका यह मतलब कोई हरगिज न समझे कि जवान अन्धाधुन्ध बिना सोचे समझे आगे ही बढ़ता चला जाता है। आगे बढ़ना जवानी का काम जरुर है, जवानी की शान नहीं। जवानी की शान तो पीछे न हटना है, चाहे कितने ही जोर के धक्के क्यों न आये। जो पीछे नहीं हटता, उसका कदम आगे बढ़ता ही है ! जो एक कदम बढ़ गया, वह बढ़ गया। यही एक कदम बढ़ना तो शान है। जवान लम्बी डगे भी रखता है और मौका पाकर सरपट भी दौडता है। इस डग भरने और सरपट दौडने मे उसका पीछे का तजुरबा अपने आप उसे ढकेलता हुआ मालूम होता है। तभी तो वह पीछे मुड़कर नहीं देखता। वह 'था' का यानी जो पीछे बीत चुका उसका तो बना हुआ पुतला ही है! उधर नजर डालने की उसे जरूरत भी क्यों ! उसका 'है' तो इतना बारीक

होता है कि वह उस पर नजर डाले डाले कि उसका कदम 'गा' में जा टिकता है। यही वजह है कि जो आदमी सच्चे मानों में जवान है वह हमेशा आगे बढ़ता रहता है।

आगे बढ़ना बदलने के सिवाय और कुछ नहीं। बढने में वक्त बदलता है, जगह बदलती है, काम बदलता है, भाव बदलते हैं। वक्त पर तो किसी का अख्तियार नहीं। इसके बदलने में किसी का हाथ नहीं। वक्त तो हम सबको बदलने वाला ईश्वर है। वह ऐसा ईश्वर है कि जरा देर के लिए भी ठाली नहीं बैठता। आप काम करें या ना करें, वह आपको बच्चे से जवान बना देगा, जवान से बूढ़ा ! आप किसी चीज को कितनी ही होशियारी से, कितने ही तालों के अन्दर, कितनी ही मजबूत सेफ में क्यों न रख दें; वक्त का ईश्वर वहा भी उसको पुराना और कमजोर किये बगैर न मानेगा। जगह के बदलने में हमारा थोड़ा हाथ रहता है, पर वह भी बहुत कम। सरदी, गरमी, बरसात हमसे हमारी जगह बदलवा कर ही रहती हैं। हा, काम पर हममें से हरएक का पूरा पूरा अधिकार नहीं है। काम बदलने में हम वक्त और जगह के लिहाज से भले ही ज्यादा खुदमुख्तार हों, पर पूरे पूरे खुदमुख्तार नहीं हैं। जितनी खुदमुख्तारी हमें मिली हुई है वह भी कम नहीं है। उसके बल बूते पर हम जल्दी काम बदलने मे पूरे पूरे खुदमुख्तार हो सकते हैं। काम बदलने की खुदमुख्तारी का नाम ही जवानी है और यही आजादी है। जवानो, अगर तुम ऐसे काम मे लगे हुए हो जो तुम्हारे पर थोपा गया है, जिसको तुम अपनी तबियत मार कर कर रहे हो; जिसके बदले में तुम्हें सैकडों तरह की ऊंच-नीच सोचनी पड़ती है, तो समझ लो कि तुम बूढे हो गए। वक्त और जगह के बदलने से कोई बूढ़ा नहीं होता। काम के बदलने की काबलियत कम हो जाना बुढ़ापा है बिल-कुल न रहना.मौत ! आगे बढ़ने के लिए हर जवान को काम बदलना होगा। रस्मोरिवाज काम है। इसको बदलना ही होगा। रहन-सहन, खान-पान, ओढ़ना-बिछाना, हकूमत करना और हकूमत मे रहना; सब काम

हैं। सब तब्दीली चाहते हैं। तब्दीली ही इनकी जान है। इन कामों में तब्दीली की जान फूंकने के तुम ईश्वर हो। अगर यह नहीं कर सकते तो न तुम जवान हो, न बूढ़े हो और न इनसानों मे गिने जाने लायक हो!

अब रह गया भाव का बदलाव यानी विचारों की तब्दीली। इस काम में तुम पूरे मुख्तार हो। अगर इसमे तब्दीली करने में तुमने जरा भी आनाकानी की तो फौरन तुम्हारी जवानी बुढ़ापे में तब्दील हो जायगी।

धर्म को ले लो। जब तुम पैदा हुए थे, अपने साथ कोई धर्म नहीं लाए थे। किसी धर्म के निशान के साथ तुम पैदा भी नही हुए। धर्म तुम्हारा वह है जो तुममें उस वक्त फूंका गया है जब कि तुम यह समझते ही न थे कि धर्म है क्या चीज! रहा इनसानी धर्म, जिसे तुम साथ लेकर जनमे हो और जिससे तुम्हें, तुममें नकली धर्म फूंककर बचपन से ही दूर रखा गया है। वह तुम में से कहीं गया नहीं है। वह सोया हुआ है। वह तुममें कभी कभी जागता है। जब वह जागता है तब तुम्हारा मन और मस्तक उमंगें भरता है। यही उमंगें तो जवानी की निशानी हैं! यह जिस दिन पूरा जागेगा, तुम पर थोपा हुआ धर्म तुममें सूई की तरह चुभने लगेगा। उस धर्म के जामें को फेंक देने के सिवाय तुम्हारे पास कोई चारा न रह जायगा। तब तुम क्या यह समझते हो कि अधर्मी हो जाओगे? हरगिज नहीं। अधर्मी तो तुम अब हो जब उस धर्म की हद बांधे बैठे हो जो हद को नहीं मानता; जो हदों में फंस कर अपना दम घोंट बैठता है!

वह जवान बूढ़ा हो गया जो सिर्फ 'हां' करना जानता है; जिसने 'ना' करने को ऐसा भुला दिया है मानो उसके पास अक़ल ही नहीं! फौज में छांट छांट कर जवान लिए जाते हैं। मगर तुम्हें यह मालूम है कि किसलिए? सिर्फ बूढ़ा बनाने के लिए! गांव का किसान जवान है। रंगरूट हुआ और जवानी का दम घुटा। सिपाही बना और जवानी ने आखिरी सांस ली। सिपाही मशीन बन जाता है। 'ना' करने से उसे सरोकार ही नहीं। मशीन कितनी ही नई क्यों न हो उसे

जवान नहीं कहा जा सकता । जवान लफ्ज तो वक्त, जगह, काम और भाव की तब्दीली का दूसरा नाम है । वह जवान जवान नहीं है जिसके लिए हर एक बात उसका धर्म ग्रन्थ, उसका गुरू, उसका अफसर या उसका मालिक उसके लिए सोच दे ! वह जवान जवान नहीं है जिसके बीमार होने का फैसला डाक्टरी की किताबें, डाक्टर या और कोई करे ! वह जवान जवान नहीं है जिसका फैसला समाज करे कि उसको किस व्यापार मे लगना चाहिए । वह जवान जवान नहीं है जो अपनी संगिनी छाटने के मामले मे अपने को उन बूढ़े मा-बाप के सुपुर्द कर देता है, जो समाज के जाल मे फंसे और रस्म रिवाज से इतने दबे होते हैं कि समझ-दार होते हुये भी, ठीक ठीक फैसला कर सकने के काबिल होने पर भी, किसी मजबूरी की वजह से न ठीक फैसला दे सकते हैं, न मन चाही बात कह सकते हैं !

किस जवान लड़के या लड़की को यह तजुरबा नहीं है कि जब वह अपनी जात, प्रात, धर्म या मुल्क के बाहर के किसी से शादी कर बैठता है, तो जिन मा बाप ने शुरु शुरु में बहुत शोर मचाया होता है, वही उस शादी शुदा जवान को कितने शौक से अपने घर मे जगह देते हैं । किस तरह अपना सारा प्यार उन पर उडेल देते हैं । कहीं कहीं हमारी इस बात के खिलाफ व्यवहार भी सुनने और देखने को मिल सकता है । पर जरा गहरे जाने पर उस बुरे व्यवहार की तह मे, बेटे की समाज व्योहार के लिहाज से अटपटी शादी कारण न मिलेगी । वहा कारण मिलेगा उनका इस तरह का स्वभाव । जवान को इतना गहरा जाने की जरुरत नहीं । उसका काम तो ऊंचा जाना है । जवान का ज्ञान-जवान के लिए बोझा नहीं होना चाहिए । अगर वह बोझा है तो समझना चाहिए कि वह जवान बूढ़ा हो गया । ज्ञान आजादी पर सवार है । आजादी पंखो वाली है । इसलिए आजादी और ज्ञान मिल कर जवान को न बेजा ठोकर खाने देते हैं और न ऊंचा उठने से रोकते हैं । न जाने क्यों जवानो के बारे में यह कह बैठने का आम रिवाज हो गया है कि जवान

जल्दी भटक जाता है और बुरे रास्ते पर लग जाता है। यह बात इतनी ही सच्चाई से दूर है जितनी यह बात कि आग की लौ ऊपर न जाकर नीचे की तरफ जाती है ! हां, आग की लौ सुनार की फुंकनी से नीचे भी जाती हुई देखी जा सकती है। उसी तरह से जवान भी समाज-सुनार की रिवाज फुंकनी के जरिए भटकते और खोटी राह पर चलते हुये मिल सकते हैं। पुलिस से तंग आकर जवानो के डकैत बनने की बात किसे नही मालूम ! समाज से तंग आकर जवान लडकियो के वेश्या बन जाने की बात किससे छिपी है ! यह जवानी नहीं है जो बुराई की ओर ढकेलती है; यह हैं समाज के बेतुके रस्म रिवाज, गवरमेंट के कडे कानून और मां-बाप की मामूली से ज्यादा अपने ठीक ना ठीक सभी हुक्मों की पाबन्दी की ख्वाहिश !

जवानो ! तुम जवान हो । सौ हाथी की ताकत रखने वाली काम वासना को तुम्हीं रोकते आए हो, तुम्हीं रोक सकते हो। तुम्ही उसको अगर चाहो तो बच्चे पैदा करने की जगह अपने जिस्म को चमकाने के काम में लगा सकते हो; उससे सोचने की ताकत बढ़ाकर दुनिया की तकलीफों का हल निकालने के काम में उसे जोत सकते हो ! यह काम न अधेड़ हाथ में ले सकते हैं न बूढ़े।

जवानो ! गुस्से जैसे ताकतवर भाव को तुम्हारे सिवा कौन काबू में रख सकता है। क्या बूढ़ा बुद्ध राजपाट को लात मार सकता था ? क्या बूढ़ा बुद्ध जवान औरत और पहले बच्चे को छोडने की हिम्मत कर सकता था ? बुद्ध का बाप सचमुच बूढा था और राम का बाप तो इतना बूढा था कि बेटे की अलहदगी भी न सह सका ! क्या बूढ़ा राम तिलक के वक्त राज छोड़ने की बात सोच सकता था ? क्या बूढ़े राम को जंगल में सीता को रखने की बात सूझ सकती थी ? त्याग बूढों का काम नहीं, जवान ही कर सकता है। गाधी ने जिनके बल पर हिंदुस्तान को आजाद किया उनमें तीस बरस से ऊपर के बहुत ही कम थे। अगर कुछ बूढे थे तो उन में से बहुत से ऐसे थे जो अपने

बेटे बेटियों के मोह के कारण गाधी के साथ लग लिए थे । अगर उन के बेटे बेटी गाधी के असर में न आते तो क्या वह कभी हिन्दुस्तान की आजादी की बात सोचते ! जवान अरविंद ही, बूढा अरविद नहीं, जवानो को हथेली पर सिर रखना सिखा सका । उसके साथी जवान, हिसा के कायल होते हुए भी हिंसक नहीं थे, न हिंसा उनका पेशा था, न मन बहलाव, न कुछ और । उनकी लगन थी हिंदुस्तान की आजादी । उस आजादी की धुन में उन्हें यह पता ही न था कि उनका सरदार उनसे क्या काम ले रहा है । किसी की जान बचाने के लिए भागने वाला जवान यह जान ही नहीं पाता कि उसके पाव से कितने कीड़े मर गए हैं और मर रहे हैं ।

जवान कभी भटकता नहीं । जिन जवानो ने अरविंद के साथ बम फेंके थे वे भटके जवान थे, विदेशी हकूमत के पत्थर के नीचे दबे जवान थे ! वे आजाद कहा थे ? हकूमत के पत्थर को चूर चूर किए बिना वह उठ भी कैसे सकते थे ! हकूमत का पत्थर उनके लिए था विदेशी सरकार का अंगरेजी अमला । इसलिए उसी पर टूट पडे । गुलामी के बोझ से दबा जवान, कमर झुके बूढे से भी कमजोर हो जाता है । 'कमजोर गुस्सा ज्यादा' यह कहावत कौन नहीं जानता । गुस्सा और हिंसा मा जाए हैं । यों दोनों कमजोर के साथ रहते हैं । कमजोरी और जवान का क्या साथ !

जवानो ! शेर नकल करने की चीज नहीं । जंगल के पत्तों की खड़-खडाहट उसको चौकन्ना करने के लिए काफी है । बन्दूक की आवाज तो भागने के लिए उसमें पंख लगा देती है । वह तो बहुत भूख मे या राह न मिलने पर ढीठ बन मुकाबला कर जाता है । इस ढीठता को न जाने क्यों आदमी ने बहादुरी का नाम दे दिया है ! हमारा अपनी उमर मे तीन बार जंगलों में शेर से सामना हो चुका है । हमारा तजुरबा हमें यह बताता है कि शेर आदमी से ज्यादा बहादुर नहीं होते । वह आदमी को बहादुरी का सबक नहीं दे सकते । हा, सूअर सचमुच 'सूर' होता है । जब वह

शेर से भिड जाता है तो शेर को ही हार मान कर पीछे कदम हटाना पड़ता है। पर सुअर मन बहलाव के लिए या पेट की खातिर जानवरों को नहीं मारता है। जानवर जानवर होता है, इसलिए अपने बचाव की खातिर सुअर दूसरे की जान ले लेता है। पर जान ही लेता है ; मुर्दार को मुर्दार ही समझता है।

आजाद जवानी को और फिर आदमी की आजाद जवानी को, हमें न अहिंसा का सबक पढ़ाना पड़ेगा, न इखलाक का पाठ ! हम तो समझते हैं कि हमें उसको अदब-आदाब की तालीम भी नहीं देनी होगी। फलदार दरख्तों को झुकना कौन सिखाता है ! आजादी के फलो से लदे हुए जवान को क्या हम अदब-आदाब का पाठ पढ़ायेंगे ! उससे तो हम सबक सीखेंगे। आजाद जवान बेअदबी की सोच ही नहीं सकता। बेअदबी खुद कमजोरी की निशानी है। बेअदबी बूढ़ों को खुजलाती और बच्चों को गुदगुदाती है। बूढे बेअदबी से वैसे ही चिढ़ते हैं जैसे कोई खुजली की खुजलाहट से। बूढे बेअदबी में आनन्द भी मानते हैं ; वह आनन्द ऐसा ही होता है जैसा खुजली की खुजलाहट। दूसरो के सलाम न करने पर खीज बैठना ; दूसरो को सलाम न करके यह समझना कि कुछ बडा काम किया, यह बूढों का काम है, न कि जवानो का।

असल में आजादी ऐसी चीज नहीं जिसे बूढ़े हजम कर सके। इसके हजम करने के लिये जवान मेदा चाहिये ! यह कि कोई आजादी को हजम कर गया उसे कैसे जाना जाय ? आजादी हमज कर जाने वाला आदमी दूसरों की आजादी मे रुकावट नहीं डालता। दूसरों को आजाद करके खुश होता है। दूसरों को आजाद होते हुए देखकर आनन्द मानता है। आजाद होने की बाते सुनकर उसके मन में उमंगे उठती हैं। हिन्दुस्तान में आजादी हजम मेदे वाले जवानो के रहते क्या कभी मुमकिन था कि रिशवतखोरी और चोर बाजारी यहां जड पकड़ पाती ? क्या यह मुमकिन था कि उनके रहते बच्चों को दूध के लिये, माओ को नमक के लिये,

बीमारों को दवा के लिये और बूढे दिल जवानो को आटे दाल के लिये तरसना पड़ता ? बेचने वाले और खरीदारों के बीच आए दिन हर चीज के लिये लुका छिपी का खेल हुआ करता ? आजाद जवानो के रहते क्या यह मुमकिन था कि भारत के मुसलमान पाकिस्तान भागने की सोचते और पाकिस्तान के हिन्दू भारत आने के लिये हरदम रकाब मे पाव डाले हुए दिखाई देते ? आजाद जवानो के रहते क्या यह मुमकिन था कि अंग्रेजी और अंग्रेजियत हम सबके सिरो पर सवार रहती ?

आजाद जवानो के रहते भारत का क्या का क्या हो गया होता इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। जापान से हम बडे हैं तो चीन से हम छोटे हैं। छोटे जापान और बडे चीन के जवान जब इतनी जल्दी अपने न-कुछ मुल्क को सब कुछ बना सकते हैं तो भारत के जवान ही ऐसे कटबचे क्यों ? सिर्फ इस वजह से कि वह धर्म और जात के रस्म-रिवाजों से इतने जकडे हुए हैं कि आजाद होते हुए भी गुलाम से बदतर हैं ! बाहरी आजादी से कब क्या हुआ है ! जो कुछ हुआ है भीतरी आजादी से। जो जवान सोचने के लिये आजाद नही वह करने के लिये कैसे आजाद हो सकता है ? बगैर कुछ किये तो भारत ऊचा उठता नही। जब तक भारत ऊचा न उठे आम आदमी को आजादी का पता लगता नही। आम आदमी को आजादी का मजा आए बिना भारत की आजादी सुरक्षित नहीं। अरक्षित आजादी गुलामी से कहीं ज्यादा खतरनाक। क्योंकि वह फूट की जड है। मुल्क के लिये फूट, दूसरे मुल्क को अपने ऊपर हकूमत करने के लिये न्योता देना है। क्या भारत के जवान यह सब बैठे-बैठे देखते रहेंगे ? जवान-दिल गाधी बूढा रहते भी गुलामी की बेडिया तोड़ गया ! क्या भारत के जवान-दिल जवान धर्म और जात के बधनों से ऊचे नहीं उठ सकते ?

जवानो ! हम चाहते हैं कि तुम आजादी के दीवाने हो जाओ। कोरे दीवाने नहीं, समझदार दीवाने। समझदारी से भरा तुम्हारा दीवानापन

रंग लाए बगैर न रहेगा। अन्दर की आजादी बड़ी चीज होती है। वह करोड़ों बिजली के बल्ब से भी कहीं ज्याद तेज रोशनी फेंकती है। उस रोशनी में यह हो ही नहीं सकता कि तुम्हारे आसपास के लोग, तुम्हारे पड़ौसी मुल्क, सच्ची आजादी के दर्शन न कर लें; उस पर फ़रेफ्ता होकर सच्चे मानी में आजाद न हो जायं; औरों को आजाद देखकर खुश न हों। आजादी की ऐसी खुशी ही सारी दुनिया की शान्ति की गारंटी हो सकती है।

: सात :

सोच चुके, चल पड़ो !

देखो, तुम्हारे चारों ओर क्या हो रहा है? पैसा कमाना छोड़कर देखो, पढना-लिखना छोड़ कर देखो, जीना-मरना छोड़ कर देखो, देखो और देखो। बेटे और बाप की नहीं बनती, बेटी और मा मे रोज ठनती, बहू और सास में आये रोज तनती! नौकर की मालिक से छेड़, प्रजा की सरकार से मुठभेड़! खुदा की बेकार सब हिदायत, बंदे की खुदा के खिलाफ शिकायत! हो सकता है 'इन्कलाब जिंदाबाद' की तह मे आदमी के बुनियादी अधिकारों की बात हो। इसलिए हरेक के जी मे यह लहर उठ खड़ी हुई हो कि वह आदमी स्वाभिमानी आदमी ही नहीं जो इन बुनियादी हकों को कुचलना चाहे, या इनके पाने मे टाग अड़ाये। वे बुनियादी हक क्या? यही कि हरेक आदमी, फिर चाहे वह किसी उम्र का क्यों न हो, रहने और कहने को अपनी जगह चाहता, खाने-पहनने-पीने को अपनी दो रोटी, अपना एक गिलास पानी और अपनी एक चादर चाहता है। ये ज्यादा नहीं हैं और चाद मागने वाली बात तो कैसे भी नहीं है! पर यही सीधी सादी बात मुट्ठी भर बंदों की नजर मे जो इस ग्रह को अपनाये बैठे हैं, सूरज मागने जैसी जंचती है और इसी की गूंज घर के मा-बापों में गूंजती है।

'लडके लड़की हमारे हैं, हमने पैदा किये हैं, हमने पाला पोसा है, हम उनको हर्गिज इतनी आजादी नहीं दे सकते। हम बड़े हैं, हमारा अदब उनको करना ही होगा। हम उनसे जैसा चाहें वर्ताव करें। हमसे उनकी कोई बात छिपी नहीं रहनी चाहिये। हमारी निजी बातें उन्हें जानने का कोई हक नहीं। हम हम हैं, वे वे।' खूब! बहुत खूब!!

लडके लड़की बोल उठे—आप पके पत्ते हैं। डाली से चिपके भर रहिये। हिले और गये। हम हरे पत्ते हैं, पेड के झकझोरे जाने पर भी पेड़ को नही छोड़ेंगे। आप झुक झुक कर हमारा अदब कर ही रहे हैं और हम आपसे अदब चाहकर करेंगे भी क्या? आपकी कुछ निजी बातें हो सकती हैं, पर वे पुरानी हैं, हमारी जानी बूझी हैं। हमारी निजी बातें आप जानकर भी नहीं जान सकते!

इसका नाम होगा बगावत, विद्रोह। पर यह बगावत तो मुट्ठी भर तानाशाहों के खिलाफ उठ खडी हुई है और उसकी जीत भी होती जा रही है। लडके-लडकियों तक नहीं पहुची तो ताज्जुब ही है!

रह गये उंगलियों पर गिने जाने वाले कुछ समझदार। वे बुद्ध भगवान की तरह बीच का रास्ता सुझाते हैं। उनका कहना है—कड़े नियमों के लिए कडी बगावत होगी ही। कड़ी बगावत और कड़े नियम, दोनों में गहराई नहीं होती, छिछलापन रहता है। वह कभी कभी किनारे काट डालता है। अति को सब बुरा ही कहते आए हैं। वह तोड़ती-फोड़ती है, बनाती नहीं। छोटे-बड़े बहुत सी बातों में एक हैं. समान हैं। थोडी बातों मे अन्तर है, उन थोडी ही बातों के लिए इतना भेद क्यों!

घर, राज की इकाई है। घर आजाद करो। देश में आजाद सरकार ही रह सकेगी, दूसरी टिकेगी ही नहीं। इकाई में सचाई से ज्यादा जान रहती है। इकाई की जान बदली तो कुल की बदलेगी ही। 'एक की चीज सो सबकी चीज'—यह बात ठीक नहीं। सब मिलकर एक पर हल्ला बोल देंगे। व्यवस्था कहा रहेगी? 'सब का माल एक का माल'—यह भी

गलत । लालची और अन्याई जन्म ले लेगा । एक सब पर दौड़ पड़ेगा । अव्यवस्था आ धमकेगी ।

इकाई की अपनी जरूरतें हैं । वे उसे मिलनी ही चाहियें । पर वे उसे उसी हद तक मिलेंगी, जहा तक कुल की जरूरतो को धक्का न पहुचे । जनता के राज में व्यक्ति अधिकारों से भरे पेट रहता है ; क्योंकि वे अधिकार कितने ही ज्यादा क्यों न हों, समाज के अधिकारों से टकराते नहीं, उनको और मजबूत बनाते हैं । नीति-शास्त्र का नया सिद्धात है—कोई समाज अपने व्यक्तिया के बल के जोड़ से ज्यादा बलवान नहीं हो सकता । सन का रस्सा तारों के रस्से से बलवान नहीं हो सकता । 'घर मे होगा सूत तभी बंधेगा भूत'—यह कहावत ठीक ही है ।

डाकू डरावनी प्लेग हैं, समाज के लिए भी और व्यक्ति के लिए भी, ठीक ; पर त्यागी और साधु तीखी तपेदिक से कौन कम हैं ! यह कैसे ? मैं भूखा रहू या मुझे कोई भूखा रखे, नतीजा एक ही होगा । मै अपना धन छोड़ बैठू या मेरा धन कोई लूट ले जाय, नतीजा एक ही होगा । कहने का मतलब यह है कि व्यक्ति किसी भी तरह कमजोर बने, समाज को कमजोर बनाएगा ही ! त्यागी जरूरत से ज्यादा का त्याग करे, सच्चा धर्मात्मा । डाकू जरूरत की कमी को लूट कर पूरा करे, पक्का धर्मात्मा । त्यागी जरूरत से कम पर रहे, एक दम पापी । डाकू जरूरत से ज्यादा लूटे, पक्का पापी । त्यागी कमजोर रह कर समाज को निर्बल करता है । डाकू औरों की जरूरत को छीन कर औरों को निर्बल करता है और यों समाज को निर्बल करता है । समाज को जो कमजोर करे, वह पापी । सिरजन करने वाला ग्रहण, विनाशकारी-त्याग से लाख दर्जे अच्छा ! सिरजन करने वाली लूट, विनाशकारी ईमानदारी से लाख दर्जे अच्छी । विनाशकारी त्याग या बलिदान से केवल तुम्हारा ही विनाश होता, तो बरदाश्त कर लिया जा सकता था, पर उसमें तो समाज का नाश छिपा है ! इसलिए बरदाश्त नहीं किया जा सकता ।

कुछ लोगों के सिद्धान्त से दवा खाना पाप है । हम भी इससे सहमत

हैं, पर इन लफ्ज़ों के साथ कि गन्दा रहना सवा पापा है और बीमार पड़ना महापाप। दवा अगर बेटी है तो गन्दगी मां। दवा का जन्म ही त्याग और त्यागियों को चुनौती देने के लिए हुआ। किसी गन्दी गुफा में, कभी न नहाने वाले त्यागी का, उपचार करने जो गया होगा, वही पहला वैद्य कहलाया होगा। जान बूझ कर गन्दी रक्खी गई देह में गन्दा मन ही निवास कर सकता है, क्योंकि यह उसी मन की सूझ है! गन्दे मन वाली देह में आत्मा भी निर्मल कैसे रह सकती है। योगियों की निर्मल देह का कथन मिलता है, उससे लपटें उठने की बात हमने पढ़ी हैं। वे उसे कैसे निर्मल रखते थे, कौन जाने? पर गन्दी देह का जिक्र कहीं नहीं। और जहा है, वहा असिद्धि का पचड़ा लगा हुआ है! देह में जीव है तो जीवित रहने के सारे साधन जुटाना त्याग और त्यागी की सीमा के भीतर आता है। जिसमे जान है, उसमें जान को कायम रखने के भाव पैदा होंगे ही।

प्राणी होने के नाते हम में अपनी नस्ल बनाये रखने की इच्छा का होना स्वाभाविक है। यह कोई बेजा बात नहीं। ऐसी हालतें हो सकती हैं जब समाज व्यक्ति को नस्ल बढ़ाने से रोके; पर उस रोक में यदि व्यक्ति और समाज की भलाई न हो तो व्यक्ति को बगावत करने का अवसर मिल ही जायगा। जीती-जागती, चलती-फिरती, बोलती-चालती मशीन के नाते देह की रक्षा करना धर्म है। देह आत्मा का रथ ही नही, आधार है। निराधार आत्मा सुना गया है, देखा-पाया नही गया!

सर्दी-गर्मी लगती है, भूख-प्यास सताती है। इन तकलीफों का दूर करना भी धर्म है। औरों से सताये जाने पर मुकाबिले की सूझती है। यों व्यक्तिगत गुणों का विकास भी जरूरी है। उस विकास में व्यक्ति की उन्नति छिपी है और उसी मे समाज की बढ़वारी।

देह के साथ मन जुटा हुआ है। मन मे भाव उठते हैं और वह देह के जरिये काम करता है। इस नाते व्यक्ति को अपने पूर्णत्व की रक्षा करनी ही होगी।

मस्तक देह का एक भाग है। अपनी सूझ पर कुछ कर बैठने की ताकत उसी में है! इस ताकत को बनाये रखने के लिए देह की रक्षा जरूरी है। यह ताकत बड़ी कीमती मानी गई है। समाज की उन्नति ऐसे ही आदमियों पर निर्भर होती है।

हम इकाई हैं। और भी इकाई हैं। ये इकाइया समाज में बिल्कुल घुल मिल न जाय, इसलिए भी इकाइयों को बनाए रखना जरूरी है!

आदमी, सब और प्राणियों से अनोखा है। इस अनोखेपन को कायम रखने के लिए इकाई को ठीक और उन्नत बनाए रखना सबसे ज्यादा जरूरीं है।

ऊपर की बातें मजबूर करती हैं कि हर एक की एक कोठरी अपनी होनी ही चाहिए। खाना-पीना-पहरना तो उससे भी ज्यादा जरूरी हं। इनके पा जाने पर ही आजादी, भाईचारे और बराबरी का कुछ अर्थ हो सकता है। ये तीनों काम की चीजें हैं और सचमुच इन तीन के बिना चैन भी कहा, आराम भी कहा, मेहनत का फल भी कहा?

सोचो तो, बाप-दादों से मिली योग्यता को बनाए रखना और उसको बढ़ाना क्या स्वार्थ है? यदि हा, तो यह स्वार्थ धर्म है, उपादेय है।

नामधारी निस्स्वार्थियों के फदे मे फसने से इन्कार कर देना क्या स्वार्थ है? यदि हा, तो यह स्वार्थ उपादेय है।

प्रेम की परिधि बढ़ाना और उसमे जगत को शामिल करना क्या स्वार्थ है? यदि हा, तो यह स्वार्थ धर्म है।

कोई तुम्हें स्वार्थी कहता रहे, तुम बड़े होते रहो, फैलते रहो, विकास करते रहो! यह तो मान ही लो कि जो तुम्हारे भले की बात है वह किसी को दुखी न करेगी। तुम्हारा एक ही कर्तव्य है और वह है अपनी शक्ति भर भला किये जाना। हा, यह ठीक है, लगने से पहले सोच लो, तय करलो। तब आगे कदम रक्खो। बड़े उद्देश्य को लेकर सच्ची सेवा में लग जाओ। अपनी प्रकृति का सदा आदर करते रहो। वह धरोहर है। उसे बिगाड़ नहीं सकते। अपने छूटे हुए काम मे लगो। अपने पर ठूंसे

काम में नहीं। पत्नी का नाम प्यारी है, प्यारी को ही पत्नी बनाओ, कोई बुरा माने या भला !

मतलब यह कि अगर तुम आज की दौड़ मे पीछे नहीं रहना चाहते तो उन जुल्मों को जरा देर के लिए भी बर्दाश्त न करो जो तुम्हारे आत्म-निर्णय में बाधक हों। तुम दब कर किसी चीज को अच्छा-बुरा कहना छोड दो। समाज को नुकसान पहुंचाये बिना अपनी जरूरतों को पूरा करते रहो। पेट भर खाओ और शक्ति भर काम करो। थकान दूर करने के लिए आराम करो। बल बढ़ाने, उत्साह लाने के लिए खेलो कूदो और मौज उड़ाओ। काम करने और खुल कर सास लेने के लिए जगह बनालो। तुम अपने जीवन के साथ खुलकर खेलो। किसी के रोके न रुको !

सच्चा आत्म-सम्मान, आत्म-पालन मानवोचित है। वह ज्ञानियों का धर्म रहता चला, चला आया है। आत्म-प्रेम ही का नाम आत्म-ज्ञान है। आत्म-सम्मान और आत्म-प्रेम से मिलकर ही सृष्टि की रचना हुई है। जिस स्वार्थ में अपना और समाज का सिरजन-वर्धन मौजूद है, उसमें अहङ्कार का कहीं स्थान हो ही नहीं सकता। रही अराजकता, वह तो उसमे समा ही कैसे सकती है! अपना ख्याल रखने में औरो का ख्याल रखने की बात आ ही जाती है। यह ठीक है कि कोई किसी तरह की आराम-तलबी का शिकार न बने और न बनना ही चाहिए। कोई अगर तुम्हारी मेहनत पर मौज कर रहा है तो तुम्हारे हटने पर उसको दुख होगा ही, पर इसके तुम कारण न होकर उसकी आराम तलबी ही कारण ठहरेगी।

तुम्हारी आत्म-चिन्ता में तो तुम्हारा योग्यता और तुम्हारी बढ़वारी की ही बात है। जो शक्तिया तुमको जन्म से मिली हैं, उनकी ओर से बेपर-वाही, उनका दुरुपयोग या उनसे इन्कारी, तुम्हें कमजोर बना देगी! तुम फिर किसी और में जान न डाल सकोगे ; और ही तुम में जान फूंका करेंगे !

सृजनात्मक स्वार्थ में हमने आत्म-ज्ञान को ही लिया है। उसी के

सिलसिले में आत्म मार्ग प्रदर्शन, आत्म-विश्वास और आत्म-रक्षण भी आ जाते हैं। जन्म को सार्थक कर जाने के लिए अपने को पहचानो। अपने पर काबू रक्खो। अपने पर ही भरोसा रक्खो। अपनी रक्षा भी अपने आप ही करो। सिरजन के काम में ईश्वर के साझीदार बनो। मां-बाप को छोड़कर उसी के रास्ते पर चलो।

सोच चुके, चल पड़ो ! (२)

●

सिरजन करने वाले स्वार्थी और लालची में जमीन आसमान का अन्तर है। स्वार्थी औरों से उतनी इज्जत चाहता है, जितनी औरों की करता है। वह खूब समझता है कि अपने में समा जाना यानी अपने को ही सब कुछ समझना बुरी चीज है। वह जो करता है, वह तो अपने को ठीक राह पर ले जाना है। और यह अच्छी चीज है। आत्म-पूजा तो पत्थर पूजा से भी बुरी। आत्म-पूजा अहंकार पूजा है। अहङ्कारकी उलझन डाह को जन्म देती है और जीवन की आजादी को मटियामेट कर देती है।

कौन नहीं जानता कि आदमी किसी का नुकसान कर चैन से नहीं बैठ सकता ! अहंकार-तुष्टि से भी बढ़कर आत्म-प्रशसा औरों को हानि पहुंचाने वाली मानी गई है।

झौड़ कर अपने सींगो से बाल-बच्चों को खत्म कर डालने वाली गाय को दूध की खातिर कौन बेवकूफ अपने घर में बाधना पसन्द करेगा ? कोई नहीं। ठीक इसी तरह समाज को एक योग्य पंडित की पंडिताई से वंचित रहने में ही लाभ है, यदि वह समाज को दिन दहाडे लूटता-खसोटता है। कोई समाज में अपनी जगह बनावे, हमें इन्कार नहीं। लेकिन अगर

वह औरों को बदनाम कर, बहुतों को लूट कर या उनके किए काम को अपना बताकर जगह बनाता और आगे बढ़ना चाहता है तो समाज को उसे बढ़ने से रोकने का हक होना ही चाहिए।

लुटेरेपन को कभी कहीं भी बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। पर जाने अनजाने यह लुटेरापन व्यापार में जगह बना बैठा है, और प्रतिष्ठित जगह बना बैठा है! वहां वह लुटेरापन न रह कर 'कुशलता' नाम से पुकारा जाता है। समाज की इस जरासी बेपरवाही का नतीजा सारी दुनिया को महायुद्ध और विश्व-युद्ध के रूप में देखना पड़ रहा है और न जाने कब तक देखते रहना पड़ेगा। हम स्वार्थ के पक्षपाती नहीं हैं। हम सिरजन करनेवाले स्वार्थ के पक्षपाती हैं। स्वार्थ तो बुरा है और बुरा ही रहेगा। स्वार्थी अपने कामों को प्रायः धर्म का रूप दे डालते हैं और यों वे भले आदमियों पर आसानी से जुल्म कर लेते हैं। कुछ भलों को फुसला लेते हैं, कुछ को बहका भी लेते हैं। पर सबको वे धोखा नहीं दे सकते। अन्त में असलियत खुल कर रहती है। तब उनको नुकसान उठाना पड़ता है। ऐसे स्वार्थी अपने किसी एक काम में एक बार फायदा उठा कर ही सन्तोष नहीं करते। वे आमरण उसमें लाभ उठाना चाहते हैं। बस चले तो जन्म-जन्मातर तक! एक बार तुम्हारी सेवा कर जन्म भर तुम्हारे यहां की रोटी तोड़ना चाहते हैं!

स्वार्थ जिसके हम बस में आजाये या जो हमारे ऊपर सवार हो जाय, लालच दिलाता है। स्वार्थ जो हमारे बस में रहे या जिस पर हम सवार रहें, सृजनात्मक स्वार्थ कहलाता है, उदारता नाम से पुकारा जाता है। लालची सब का सब चाहता है। उसका पेट कोई नहीं भर सकता। उसके प्याले में सब कुछ समा जाने पर भी जगह बनी रहती है। जी चाहे वह तो करता ही है, औरों से भी अपना मनचाहा कराना चाहता है। जानदार और बेजान में उसे कोई तमीज नहीं रह जाती। नौकर का थकना उसे सहन न हो, न सही; वह तो चाहता है कि उसकी घड़ी भी बिना

कूक के चलती रहे ! उसे बन्द देख कर उसे झूंझल आती है। वह उसे पटकता है।

इन लालचियों में एक गुण भी रहता है। वे अपने लालच के ऐब को दूसरों पर प्रकट नहीं होने देते। लालच की बुराई उनसे सुनिए, स्वार्थ के परखचे उनसे उडवाइए, निस्वार्थ के गीत उनसे गवाइए! उनसे मिलकर आपकी तबियत खुश हो जायगी। मालूम होगा कि धर्म और प्रेम के वे पुतले हैं!

स्वार्थी यों पहचाने जाते हैं :

* अपने घर को ईश्वर की देन कहना, उसे अपना न कह कर अपनाये जाना।
* त्यागियों की जी भर तारीफ करना, पर त्याग से कोसों दूर रहना।
* सबको नेकी करने का उपदेश देना और 'नेकी कर कुएं में डाल' वाली कहावत पर मुग्ध हो जाना।
* अपने ऊपर आफत टूट पड़ने के बहाने भले काम करने से इन्कार कर देना।
* जो कुछ करना धन के लाभ के लिए करना सेवा-धर्म की बात मन में आने ही न देना।
* मिल-जुलकर काम न करना और अगर करना तो फूट डालने के लिए या हाथ साफ करने के लिए।
* घमण्ड के घोडे पर हर घड़ी सवार रहना। अपने आप मियां मिट्ठू बनना।
* अहंकार को न त्यागना। आ पड़ने पर आत्महत्या कर डालना।
* समाज की भलाई-बुराई सोचे बिना अपना उल्लू सीधे किए जाना।
* साझे के व्यापार को साझे के विवाह की तरह बुरा समझना।

- लड़ाई जीतने की बात न सोचकर अपनी अफ़सरी में ही लड़ाई जीतने की बात सोचना।
- ईश्वर से अनोखी प्रार्थनाये करना जैसे आज मरने पर सूखा पड जाने की, धरोहर घर मे होने पर धरोहर रखने वाले के मरजाने की या लखपति, करोड़पति, अरबपति बन जाने की।
- गरीबी के गीत गाना और गरीबों को चूसते रहना।
- कुल की श्रेष्ठता में विश्वास करना और सुख भोगने का अधिकारी मानना।
- अपने हजारों वर्ष पुराने बाप-दादाओं की डींग मरना, पर उनके कदमों पर कभी न चलना।
- केवल बेबसी से धन छोड जाना पर मरने के बाद जीवन-दायिनी देन न दे जाना।

स्वार्थी को सभी बुरा कहते आए हैं। लालच की सब ने निन्दा की है। आखिर क्यो? क्योंकि इसकी जड़ मे भय, क्रोध, काम, माया, दासता, लोभ, डाह, अहंकार आदि रहते है। हिम्मत, दया, सहयोग, सिरजन, देशभक्ति, धर्म-भक्ति, सब इससे दूर भागते हैं। स्वार्थी समाज के किसी काम का नहीं है। अपने लिए भी निकम्मा। कुत्ते की तरह घास पर कब्जा कर बैठना अगर सुख है तो स्वार्थी भी सुखी है।

सन्तों का कहना है कि कष्ट-सहन यानी तपस्या से विशेष फल होता है। तपस्या हमको एक सबक दे जाती है और वह यह कि ईर्षा, द्वेष, लोभ लालच, मान-माया अच्छी चीजे नहीं। ये सब छोड़ने योग्य हैं। दुख का दण्ड हमे तब तक मिलता ही रहता है जब तक हम लालच का त्याग न सीखे और हिल-मिल कर काम करने के लिए तैयार न हो जाय।

आत्म-चेतना जितनी बढेगी उतना ही हमारा विकास होगा। क्रोध, लोभ जीते नहीं जाते; हम उनसे ऊंचे उठ जाते हैं। शत्रुता हमसे कहीं जाती नहीं; बेकार हो जाती है। हम समझ जाते हैं कि शत्रुता मूर्खता है। असतोष और तुच्छता संतोषी और महान के पास कैसे रहेगी! अपने

से जाने हुए आप में इच्छा-शक्ति प्रबल हो उठती है, हठ चल बसती है। तुनक मिजाजी की तो कौन कहे, आवेश भी बाहर निकलते शर्माने लगता है। यही कारण है कि ज्ञानी लोग नेक बनने पर भी जोर नहीं देते। उनका कहना है, 'अपने को पहचानो।' नेकी उन्नत आत्माएं ही कर सकती हैं। उजड्डों से नेकी हो जाती है; वे नेकी कर नहीं सकते। उजड्ड वाल्मीकि से एक साधू मरते-मरते बच गया। उसने उसे छोड़ना नहीं चाहा था। आत्म-ज्ञानी वाल्मीकि ने सीता की जान बचाई, राम को नेकी का पाठ पढ़ाया और दोनों को आदर्श के रूप मे अमर कर गये। अपने को जो न पहचाने, वह अहंकारी। अहंकारी से सच्ची सेवा की आशा करना गूलर के पेड़ पर फूल ढूंढ़ना है। हां, वह बातों की सेवा कर सकता है। लालची आदमी से अपना लेखा-जोखा ठीक रखना ही ठीक है। अपनी जरूरतों का ध्यान रखते हुए, समाज के सदस्य बनो। सिद्धान्त की तरह, अपनी जरूरतों पर अटल रहो। अपने काम की एक योजना तैयार करो और उस पर धीरे-धीरे मुस्तैदी से बढ़े चलो।

कोई अहंकारी तुमसे आ भिड़ सकता है और तुम्हारी योजना को गलत साबित कर सकता है। उससे बहस न कर चुप्पी साध जाओ। चुप्पी बड़ी चीज है। वह सोये स्वार्थ को जागने नहीं देती। स्वार्थ और निस्वार्थ मे जब भी झगड़ा होगा, तब जीत स्वार्थ की ही होगी; अहकारी जो सामने है! कुत्ते की बातों मे भेड़िया आ ही गया था। पट्टे पर नजर न जाती तो आल-औलाद समेत गुलाम हो गया होता। हमें शैतान बने रहते फरिश्ता बनना आता है। देव और दानव दोनों हममें जाने कैसे मिल कर रह लेते हैं! इसी से चुप्पी ठीक। शैतान सोता बहुत है, पर जब जागता है तो कुमकर्ण की तरह बात की बात में सैंकड़ो हजारों को हड़प-कर जाता है। फरिश्ता सोता नहीं, वह शैतान के लिए भी फरिश्ता बना रहता है। फरिश्ता तो फरिश्ता ही रहेगा। देव दानव बन कर देव कैसे रहे! दानव के जागने पर हम चाहने लगते हैं कि चाद हमारे घर मे ही चांदनी करे। किसी और के घर में न कर पाये। हम राहु बनकर उसे

निगलने के लिए तैयार हो जाते हैं, भले ही हमारे आंगन में अंधेरा हो जाय ! अगर हमारी अन्तरात्मा का व्यवहारी हिस्सा, संतोष के साथ समझदारी की चटनी-रोटी को कभी-कभी सम्भाले न रहे तो हम घर में ही लालच के कारण यश के लिए लड़ मरें। नेकी का देवता हम में है। वह जाग भी रहा है। पर वह करे क्या ? हम उसे पहचाने तो। अपने को पहचाने बिना उससे हम काम नहीं ले सकते। होता यह है कि हम लालची बनकर औरों को दुख देते हैं, लूटते हैं; या बेसमझ त्यागी, साधू, भले बनकर दुख भुगतते और लुटते हैं।

पुराणों में तो हैं ही, आज भी तुमको ऐसे आदमी मिल सकते हैं, जो अपनी लुंजिया-पुंजिया तुम्हें दे डालें, आप वे कौड़ी-पैसे रह जायं ! उन्हें इस तरह की पूर्णताओं में आनन्द आता है। शराब और जुए की तरह यह भी एक चसका है। देखने में भला लगता है, सुनने में रस मिलता है। लेकिन कल क्या होगा ? उन्हीं दानवीरजी को कोई या शायद तुम्ही रोटियां दिलवा रहे होगे, बचा-खुचा खाना दे रहे होगे और फटी पुरानी उतरन पहना रहे होगे ! इसके सिवा होना भी और क्या था ! जरूरतों को त्याग कर जरूरत की भीख मांगते फिरो ! अजब दुनिया है ! दमड़ी न देंगे, चमड़ी देंगे। राजा से प्रजा न बन कर त्यागी साधु बनेंगे; पुजेंगे और भेंट लेंगे। खोटे के जोर पर पाव छुओ और कनक (सोना) भेंट दो। खोटे त्याग के नाते पाव छुओ और कनक (गेहू) चढ़ाओ। लालचियों की जमात, स्वार्थियो के दल; आजादी, भाई चारे और बराबरी को कहीं न जमने देंगे। त्यागियो में बढ़ा-चढ़ी की आग सुलगा देंगे। भीख के लिए भी मुकद्दमे चलेंगे ! संतों मे महन्त खड़े हो जायंगे !

हे स्वार्थ, तेरी महिमा अपार है !

तू नेकी भी करता है तो अपनी शान बढ़ाने के लिए। सच की टेक निभाता है, पुराणों मे स्थान पाने के लिए। औरों के चरित्र की देख भाल रखता है, अपने कुचरित्र के अरमान निकालने के लिए। तू दुखियों को दान देता है, उन्हीं को चूस कर उन पर शान जमाने के लिए। तू जीव-

दया प्रचारिणी का सदस्य बनता है, बड़े-बड़ों में स्थान बनाने के लिए। तू विशाल मन्दिर खड़े करता है, लूट के माल का नाम दान रखवाने के लिए। तू देश, धर्म, समाज, सबको बलि दे सकता है, अपनी संतान को धनवान बनाने के लिए। तू बाप को कैद कर सकता है, भाइयों को मार सकता है, थोथी आन-बान बनाने के लिए। रास-आसन पर बैठ कर ठीकरो की भेंट पाने के लिए। लड़ाई में लाखों के सिर कटवा कर, बचने का रास्ता न पाकर, अपने सिर में गोली मार सकता है, स्वर्ग में सम्मान पाने के लिए। तू औरों को अपने किये का फल चखने ही नहीं देता, अपने को न्यायवान मनवाने के लिए। तू औरों की बढ़वार को रोकता है और जबर्दस्ती रोकता है, अपने को ज्ञानवान दिखलाने के लिए। तू ऐसे धर्म-स्थान बनाता है और ऐसी धर्म संस्थाएं खोलता है, जिनमें तेरा तनिक भी विश्वास नहीं है, केवल सार्वधर्मी कहलाने के लिए। तू अथक परिश्रम कर सकता है, प्राणों की भेंट भी चढ़ा सकता है, प्रेमियों में नाम गिनवाने के लिए। तू अमानुषी काम कर सकता है, किसी की निगाहों में राज्यमान बन जाने के लिए।

खुलासा यह कि तू भला कर सकता है, इसलिए नहीं कि भला करना भला है, किन्तु इसलिए कि भला करने से तेरा अपना कुछ फायदा है। तू बुरा कर सकता है, इसलिए नहीं कि तू वैसा करने के लिए मजबूर है, किन्तु इसलिए कि वैसा करने से तेरा कोई भला हो।

बुराई न करना भलाई नहीं कहलाती। बुरा न करने वाला भला नहीं बन जाता। ईंट-पत्थर को कोई भला नहीं कहता। निस्वार्थी आदमी केवल निस्वार्थी होने से धर्मात्मा नहीं हो सकता। कोरा आत्मवाद जड़-वाद से भी बुरा होता है। जिसके जीवन में देन कुछ नहीं, वह त्यागी, छोटे-मोटे लुटेरे से कम नहीं। त्यागी लेता ही रहा है; उसने दिया क्या? लुटेरा लेता ही रहता है; वह देता ही क्या है? सच्चे त्यागी हमें ज्ञान का भण्डार दे गए। जिनको छाप-छाप कर आज सैकड़ों पण्डित पेट भर रहे

हैं। वे सृजन कर्त्ता स्वार्थी थे, खोटे स्वार्थी नहीं। जीने के लिए लेने से जो ज्यादा दे, वही धर्मात्मा।

यह देने की ताकत 'स्व' को 'अर्थवान' बनाए बिना नहीं मिलती। इसलिए इन अर्थों मे स्वार्थी होना जरुरी है। धर्म के नाम पर अपने उठते मन को मत मारो, अपने उत्साह को ठण्डा मत करो, अपनी इच्छाओ को मत दबाओ। धर्म सदा बल प्रदायक रहा है। वह तुम्हे उठने मे नहीं रोकता। रुढि के सहारे खडा साधू या त्यागी, जीवन की अपार चेतना की बात सुनकर अचरज मे पड जाता है। तुम्हारे मुंह मे ताकत की बात सुनकर उसे डर लगने लगता है। जड की करामात सुन कर उसके कान खडे हो जाते हैं। वह शक्ति भर जोर लगा कर तुम को रोकेगा, तुम्हारे उत्साह पर ठण्डा जल डालेगा, क्योंकि वह तुम्हारे तेज को सहन नही कर सकता। तुम्हारे भीतर बैठे राम को वह जागता नहीं देख सकता।

वह निस्वार्थी कैसे धर्मात्मा हो सकता है जो अपने से ही डरता है, अपनी उन्नति को ही अवनति समझता है? अपनी ओर से बेपरवाही का दूसरा नाम है मौत या क्षय रोग। प्रकृति का यह अटल सिद्धांत है। तुम रोज देखते हो कि बीज उगने से इन्कार करने पर कुछ दिनों मे जमने और उगने की योग्यता ही खो बैठता है। पिंजडे के तोते, पखों का इस्तैमाल भूल जाते है। प्रेत-शाति मुक्ति न दिलवाकर दासता मे फंसा देती है। आत्म शक्तियों का दबाना, तोडना, मरोडना, बेकार रखना, हर हालत मे बुरा है। त्यागी आत्म-शक्तियों को दबाकर आत्मा को छोटा कर लेता है और असफल रह कर चल बसता है। जीवन भर वह दूसरो पर बोझा बना रहता है जबकि उसे दूसरों को अपने कधों पर संभालना चाहिये था। दूसरो को बलि-वेदी पर चढ़ाकर, बाद मे उस पर चढ जाना, यह कोई जीवन है! इसका नाम आत्म बलिदान नहीं, आत्म-हनन है।

बढ़ती और उठती आत्माए कहीं औरों का मुंह ताकती हैं! और तो उनके आश्रय मे आकर स्वाधीन हो जाते हैं। गाव वालों का कहना ठीक

है, 'टुक देवा मरियो, सिख देवा जीयो।' यानी पेट भरने वाला चाहे मर जाय पर सीख देने वाला जीता रहे। बढ़ती हुई आत्माए अपना हनन न कर अपने को उपयोगी बनाती हैं। प्रकृति के हाथ में बढ़ोतरी और सृजन का औजार बनती हैं। सुख-शांति की स्थापना करती हैं। पुराने खयाल के लोगों को, त्याग यानी आत्म-हनन के गीत गाने दो। उनको अपने अभिमान को शात करने के लिए सहज-शहीदी पाने दो। तुम तो अपने को योग्य बनाते रहो। अपने को दान न कर योग्यता प्रदान करते रहो।

योग्य बनो !

* ठाली न रहो, काम मे लगे रहो। ऐसे काम में, जिससे तुम्हारा जीवन बने, औरों का सुधरे।
* औरों के साथ ऐसा करो, जिससे उनकी आत्म-शक्तिया खुले, शंकाएं भागें, आकाक्षाएं बस में हों, वात्सल्य फूट पड़े, प्रेम प्रवाह जारी हो जाय।
* सत्य पर निछावर हो जाओ। उसके सामने घुटने टेक अपने को अभिमानित मानो।
* बुराई को भलाई से लोप करो, वह उभरने ही न पावे।
* अपने लिए कुटुम्ब को, कुटुम्ब के लिए समाज को और समाज के लिए मानव-जगत के लाभ का बलिदान न करो।
* जो नेक काम उठा लिया है, उसमें जी-जान से जुट जाओ। कुछ करके और बनाके छोड़ो।
* यह दौड़ कैसी ? यह बढ़ा-चढ़ी कैसी ? यह होड़ कैसी ? यह एक किस्म के जुए हैं। इनसे बचो और ऐसी होड़ों का समाज से अंत कर दो।

* सच्ची समाज-सेवा ऊंचा काम है। कैसी भी समाज-सेवा हो, उससे झिझको नहीं।
* दूसरों के लिए मरना, अच्छा काम है; पर आसान है। दूसरों के लिए जीना बहुत अच्छा है: पर मुश्किल है। दूसरों के लिए जीना सीखो।
* मुफ्त का मेवा न खाओ। सेवा का मेवा खाओ।
* सबको अपनी-अपनी रुचि का खाने-पीने दो, काम करने दो। अपनी रुचि उनके सिर न थोपो।
* बच्चों मे अपनी उम्र और बित के मुआफिक समझ होती है, ज्ञान होता है। सोचने मे, मिलने-जुलने मे, उन्हें अपने बराबर का समझो।
* मानव-समाज के सुख की बढवारी के लिए अपने को समर्पित करदो; विनीत भाव से। आत्म बलिदान का अर्थ है आत्म-संस्करण, आत्म-शमन, आत्म-दमन, आत्म-गुण-विकसन।

तुम्हारा अहंकार जब सेवा का औजार बन जायगा तब तुम्हें सब भाई भाई दिखाई देंगे; सहयोग मे लुत्फ आयगा, ऊंच-नीच का भेद मिट जायगा। ईश्वर से अपने लिए कुछ खास चीज मागने की आदत छूट जायगी। तब और तब ही तुम्हारा स्वार्थ सच्चे निस्स्वार्थ मे बदल सकेगा।

समष्टि के बिना व्यष्टि के अधिकार की बात ही नहीं उठती। व्यष्टि-सम्पूर्णता के बिना सहयोग मे बल ही कहा। प्रेम और ज्ञान के बिना सेवा भी क्या बन पडेगी।

उठो, योग्य बनो और विकास की सेना के सिपाही बन कर ह्रास की फौज को आगे बढ़ने से रोक दो।

❂

: आठ :

सुख और शांति

शाति की पूजा बहुत होती है। उसको काफी से ज्यादा महत्त्व मिला हुआ है। धर्म-ग्रंथ का अन्त 'ॐ शान्ति' कह कर ही किया जाता है। कुरान के अन्त में भी ॐ शाति के अर्थों वाला 'अस्सलाम' लिखा मिलता है। सारे धर्मों की बुनियाद शाति के लिये पडी। फिर भी शान्ति शब्द मे आज इतना मिठास नहीं है जितना 'सुख-शान्ति' बोल मे। शान्ति के साथ सुख जुड़ जाने से शान्ति का मतलब सब के लिए साफ हो गया है। यानी जहा शान्ति वहा सुख या जहा सुख वहा शान्ति। यों सुख-शान्ति एक अर्थ वाले शब्द हो जाते हैं।

सैकड़ो व्याख्यानो को व्याख्यान देने वाले यों शुरू करते है 'सब सुख चाहते हैं, धर्म यह सिखा सकता है कि सुख कहा मिलेगा' और आगे चल पड़ते हैं। मानो व्याख्यान देने वालों को व्याख्यान सुनने वालो के मन का ठीक-ठीक और पूरा-पूरा पता है। उनको अपनी इस जानकारी पर पूरी तसल्ली यों हो जाती है कि व्याख्यान सुनने वालो में से कोई एक भी उनकी इस मान्यता का खण्डन नहीं करता। हम भी ऐसे व्याख्यानों के सुनने वालों मे रहे हैं। हमने भी भेड-चाल या भीड़-

चाल के वश मे होकर औरों की तरह चुप रहने मे ही अपनी सुख शान्ति समझी है। हमे बोलना चाहिए था और हम बोले नहीं। बात हमारे मन लगती न थी तो हमे चुप नहीं बैठना था।

आदमी जी से सुख-शान्ति नही चाहता है ! वह सुख-शान्ति से ऐसे ही डरता है जैसे दुख-दर्द से। अगर सुख सोने मे है तो हमे एक भी न मिलेगा जो सौ घटे, पचास घटे या पचीस घंटे भी सोये। अगर सुख खाने मे है तो हमे एक भी ऐसा न मिलेगा जो दस सेर, पाच सेर, या ढाई सेर खा जाय। सुख-शान्ति को समझाने के लिए हमे यह तो बताना ही पड़ेगा कि सुख-शान्ति है किस काम मे ? काम कोई ऐसा बताया नही जा सकेगा जिसमे कोई निरन्तर लगकर, कुछ ही समय मे, दुख न मानने लगे। फिर यह बात कैसे ठीक हो सकती है कि लोग सुख शान्ति चाहते हैं ?

कुछ ऋषियो ने 'वेदना' नाम का एक और शब्द खोज निकाला। वेदना शब्द विद् से बना है। विद् माने जानना। वेदना माने जानकारी। वेदना शब्द वाले ऋषि ने सुख को कहा अनुकूल वेदना और दुख को कहा प्रतिकूल वेदना। इसको सीधे शब्दों में यो समझ लीजिये कि मन लगती जानकारी सुख और मन न लगती जानकारी दुख कहलाती है। अब सुख रह गया मन चाही बात। अब धर्म बताये कि वह क्या सुख सिखा-यगा ? जो मैं चाहता हू उसके मिलने से ही मुझे सुख मिलेगा ! अगर धर्म मेरी हा मे हा मिलाता है तो धर्म ने मेरा क्या भला किया। मेरे किस काम आया ! अगर धर्म मेरी बात को काटता है और 'ना' कहता है तो वह मुझे दुख देता है। फिर यह बात झूठ हो जाती है कि धर्म सुख देता है। इस अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं ने बात तो आदमी के मन लगती कही पर इसमें ऐसा कोई बीज न मिला जिसे बोकर आदमी सुख-फल की खेती आसानी से काट ले।

कुछ ऋषियो ने ऊंची उडान ली और एक नये शब्द 'आनन्द' की रचना कर डाली। इस शब्द की तेज धार से उन्होंने अनुकूल और प्रति-

कूल दोनों वेदनाओं का सर काट कर फेंक दिया। सुख-दुख दोनों को बेकार और निरी दुनियादारी की चीज़ बना छोड़ा। अगर आनन्द शब्द का उल्था किया जाय तो वह होगा आत्म-वेदना। घरेलू बोली में वही होगा अपनी जानकारी। अब आनन्द रह गया आत्मानन्द; अपने आप अपने आपे में मगन रहना। अगर वेदना शब्द से आप चिपके ही रहना चाहते हैं तो आनन्द के माने हो जाते हैं अपने आप को जानते रहना और मगन रहना। वास्तव में बात यह गहरी है। बड़े-बड़े तर्क शास्त्रियों का मुंह बन्द कर सकती है; पर है कोरी कल्पना! हो सकता है सच्ची हो। पर जहां कहीं वह सच्ची मिलेगी वहां न हम होंगे न तुम और न यह दुनिया होगी। ऐसी सचाई से हमें क्या लेना देना!

आइये, अब आसमान से फिर भूतल पर आजायं और अपनी सुख-शान्ति से भेंट करें। भला-बुरा जैसा भी सुख इस दुनिया में है, भली-बुरी जैसी भी शान्ति यहा मिलती है, उसी से हमें काम पड़ेगा, उसी को पाकर हमें तसल्ली होगी और चैन मिलेगा। आइये, उसी की खोज करें और पता लगाएं कि वह कहा रहती है और कहा अपने आप आ जाती है? और क्यों अपने आप चली जाती है? फिल्म के चित्रों की तरह वह निरी छाया ही क्यों न हो, जब हमें सुख देती है तो हमारे लिये वह छाया नहीं, बड़ी माया है। हम उसके खोजने, उसकी चर्चा करने में, कुछ समय दें तो वह समय का इस्तेमाल है बरबादी नहीं।

शान्ति की खोज मे निकलने से पहले यह बात हमें जी मे बिठा लेनी चाहिए कि सुख-शान्ति मिलेगी हमें तभी, जब हम सच्चे जी से उसको अपनाना चाहेंगे। हम चाहें और वह न मिले, ऐसा हो नहीं सकता। जो आदमी जो चीज चाहता है, वह कोशिश करके अपने जी से चाहने का सबूत देता है। कोशिश किये जाता है और पा भी लेता है।

हमारा अनुभव हमें यह डंके की चोट बता रहा है कि हम सुख-शान्ति

नहीं चाहते। न अलग अलग और न समाज रूप से। खोजने पर सौ में से कोई एक ऐसा शायद मिल जाय जो सुख-शांति के पीछे लगा हो, उसको पाने की कोशिश कर रहा हो। समाज रूप से तो उसकी भी कोशिश यही मिलेगी कि सुख-शान्ति जितनी दूर रहे उतना अच्छा! जब समाज से सुख-शान्ति दूर है, तो व्यक्ति उसे कहा से पा लेगा! जब व्यक्ति ही उससे भागता फिरता है तो व्यक्ति से बना हुआ समाज उसे क्या आसमान से बरसा लेगा!

यह बात हम बढ़कर कह गये कि न व्यक्ति सुख-शान्ति चाहता है और न समाज। इस बात का अगर कोई पक्का सबूत हम न दें तो यह किसी के गले न उतरेगी। हमारी हसी उडेगी सो अलग। मगर हमारी हसी तभी उडेगी जब कोई यह साबित कर देगा कि समाज भी और व्यक्ति भी, सुख-शान्ति चाहते हैं। अलग-अलग और मिलकर सब उसी की खोज मे जुटे हैं। जी जान से कोशिश कर रहे हैं। अगर ऐसी हमारी हसी उडी तो हमारे हिस्से मे कुछ सुख ही आयगा। क्यों कि हम इस बात के कायल हैं कि खोज करने से सुख-शान्ति जरूर मिलती है।

आइऐ, सुख-शांति के लिए पहले पाच भूतों की खोज करें। जलन को अगर आप दुःख मानते हैं तो ना-जलन मे सुख-शांति का निवास है। आग जलाने के लिए कम से-कम तीन लकड़ियों की जरूरत होती है। यानी जलन या दुःख पैदा करने के लिए तीन का इकट्ठा होना जरूरी है। जलन को ना-जलन मे बदलने के लिए यानी दुःख को शांति मे बदलने के लिए इतना ही तो करना है कि तीनों लकडियों को अलहदा कर दें। थोडी देर मे आप ही बुझ जायेंगी। न औरों को जलावेंगी और न खुद जल पायेंगी। आज घर-घर मे पत्थर का कोयला इस्तेमाल होने लगा है। बच्चा-बच्चा जानता है कि कोई एक कोयला जलती आग से अलग हुआ कि बुझा।

पानी घटाओं के रूप मे तूफान लाता है, बिजली गिराता है, अंधेरा करता है, मकान तोडता है, पहाड़ तोडता है, और न जाने क्या-क्या

आफतें खडी करता है। वही जब बिखर कर इधर-उधर फैल जाता है तो सुख शाति फैलाता है। खेतिया सरसाता और अंधेरे को उजाले में बदलता है। पानी बाढ़ के रूप में गाव के गाव बहा ले जाता है। समझदार लोग बाढ़ से बचने के लिए नदी के किनारे-किनारे नहरें तैयार रखते हैं, पानी को छितरा देते हैं। बाढ़ की बला को नहरों के जरिये सुख-शाति मे बदल देते हैं। हवा घने पत्ते वाले पेड़ को टक्कर मार कर गिरा देती है। लेकिन जिस दरख्त ने अपने पत्ते छितरा दिए हैं, आधी रूप वाली हवा उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि उससे टकरा कर हवा स्वयं छितरा जाती है। रेल वाले कई सिगनल के हत्थों का नुकसान करने के बाद यह समझ पाये कि उसमें अगर बहुत से सूराख कर दिए जायें तो आधी फिर उसे न तोड-फोड सकेगी क्योंकि वह खुद इन सूराखों में होकर छितरा जायगी।

आग, पानी और हवा गला फाड-फाड़ कर यह सबक दे रहें हैं कि सुख व शाति बिखरने और छितराने में है, सिमटने और इकट्ठे होने में नहीं। प्रकृति के ये दोनों गुण हैं कि वह सिमटती समेटती है, बिखरती बिखेरती है यानी दुख सुख मर्म है। आदमी दुख से बिलकुल तो नहीं बच सकता पर जरा सोचे समझे तो सुख-शाति के अम्बार खड़े कर सकता है।

हमारी हरी-हरी खेतिया जिनको देखकर हमारी आखें तर हो जाती हैं, हमारा मन उमगों से भर जाता है। जिसे देख घरवालिया गा उठती हैं, नाचने लगती हैं ; बच्चे खिलखिला उठते हैं। वह सब नतीजा है उस ढेर को छितराने का और बिखराने का जो घर में ढेर के रूप मे कोठी में बंद था। अगर कुछ देर और बंद रहता तो तरह-तरह के कीड़े और बदबू पैदा करता, घर भर को दुख देता। सड कर कितनों को भूखा रखता, कितनो को रुलाता, अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। देखिये न, अब उसी का एक-एक दाना खेत मे बिखरकर कितने गुणा हो गया है। याद रहे वह वहा ढेर मे रहने के लिए नहीं बढ़ा है। अगर

उसे कोई ढेर के लिए बढा हुआ समझे तो वह दुख का ढेर खडा करना चाहता है। खेत पकने पर जितनी जल्दी, जितने छोटे टुकडो मे छितराया जायगा, उतना ही ज्यादा सुख-शाति फैला सकेगा। इकट्ठे होने मे दुःख है, इसी मे सुख है अगर हम बिखरने के लिए इकट्ठे हो रहे हो। याद रहे कि बिखरने की नीयत से इकट्ठे होने मे असली सुख नहीं, अमली सुख नहीं; माना हुआ सुख है, सुख की इन्तजार का सुख है। असली और अमली सुख तो छितरने और बिखरने मे ही है।

आइये, अब जरा अमली दुनिया मे आये। आपको अपनी मेहनत के एक महीने बाद, किसी एक दिन सौ रुपये इकट्ठे हाथ लग जाते हैं। वे सुख देते हैं, पर वही नकली सुख यानी इन्तजारी का सुख। अमली सुख तभी मिलेगा जब वे कई दूकानों पर बिखेर दिये जायेंगे और वहा से तरह-तरह की चीजें घर पर आकर जमा होंगी। अभी जमा हो रही हैं। इसलिए असली सुख के इन्तजार का ही सुख है। अब जरा उसके पकवान बनने दीजिये। अभी भी असली सुख कुछ दूर है। अब उस पकवान को घर में बटने दीजिए, बिखरने दीजिए। अब देखिये कि वे बिखरे हुए सौ रुपये, बच्चों को कैसे कुदका रहे हैं, बड़ों को फुदका रहे हैं, चहका रहे हैं; आपको मुस्करा रहे हैं।

यह ठीक है कि आप सौ के सौ नहीं खर्च कर डालते, कुछ बचा रखते हैं। जो बचा रखते हैं उतना ही दुःख बचा रखते हैं। आप कह सकते हैं कि हम तो उसे सुख मानते हैं। बेशक, आप ठीक कहते हैं। आपने दुःख को सुख का नाम दे रखा है। तभी हम कहते हैं कि दुनिया में सुख-शाति कहीं नहीं है। अगर आप, जिस दिन आपको सौ रुपये मिला करे उसी दिन उन रुपयों को, अगर आपका कुटुम्ब पाच आदमियों का है, बीस-बीस रुपये फी आदमी या और किसी हिसाब से उनमें बाट दिया करें तो आप देखेंगे कि आप और भी ज्यादा सुखी हो गये हैं। आये दिन की झंझटों से बच गये हैं। यह बिखेर देने का तरीका जमा करने की रीति से कहीं ज्यादा सुखदायक है।

हम हैरान हैं, सूद की बुराई या सूद में रहने वाला ज़हर मुहम्मद साहब के सिवा किसी और सन्त को, ऋषि या नबी को, क्यों न दिखाई दिया ? सूद का रिवाज एक ऐसा दुखदाई रिवाज है, जिसके रहते समाज का सुखी होना या व्यक्ति का शान्ति हासिल करना किसी तरह सम्भव नहीं हो सकता। इसकी खोटी भलाई लोगों के दिलो में इतनी गहरी असर कर गई है कि वे ठण्डे दिल से इस मामले पर सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकते। सूद एक ऐसी बला हैं जिसने समाज में कहीं टीले खड़े कर दिये हैं तो कहीं पोखरे खोद दिये हैं। सूद समता के लिए कड़वा विष है। धन जमा करने का रिवाज उनमें भी है जिनकी गरदन में सूद के रिवाज की रस्सी नहीं पड़ी है। पर उनका धन जमा करना इतना दुखदाई नहीं होता जितना सूद देने वाले समाज का। आमतौर से धन चादी और सोने के सिक्कों के रूप में जमा किया जाता है। यही तरीका जमा करने का जहरीला है। उसका बैंकों में जमा होना तो बेहद ज़हरीला है। हम तो धन के किसी तरह भी जमा होने को समाज और व्यक्ति के लिए दुःखदाई ही समझते हैं।

जब तक सिक्के का चलन मौजूद है, तब तक न लोग जमा करने से रुकेंगे और न सच्चा सुख पा सकेंगे। इसमें शक नहीं कि हमारे ये इने-गिने शब्द इस मामले में लोगों की पूरी-पूरी तसल्ली न कर सकेंगे। वे हम से और भी ज्यादा खुलासा इस मामले में चाहेंगे। पर हम उन्हें यही सलाह देंगे कि वे ठण्डे दिल से सूद की ऊंच-नीच पर अकेले में एक बार गहरी नजर डालें तो वे जरूर उसी नतीजे पर पहुंचेंगे जिस पर हम पहुंचे हैं। उनके सोचने के लिए इतना इशारा हम किये देते हैं कि वे एक बार इस तरह सोचें कि उन्होंने कुछ रुपया सूद पर ले रक्खा है और कौड़ी चुकाने के लिए पास नहीं। फिर इस हैसियत से सोचे कि उन्होंने अपना सारा उधार दे रक्खा है और आसानी से एक कौडी भी वसूल नहीं हो पाई। तब वे सब तरह के नीचान-ऊंचान में होकर निकल जावेंगे और सूद की सब तरह की बुराइया उनकी समझमें आजायेगी। फिर आप वे इस

नतीजे पर पहुच जायेंगे कि सुख पैसे के जमा करने मे नहीं, उसके छितराने और बिखराने मे ही है।

यह किसे नहीं मालूम कि होशियार हकीम और वैद्य जब किसी मरीज को अपने हाथमे लेते हैं तब सबसे पहला काम वे उस चीज को छितराने का करते हैं जो बहुत दिनों से मरीज के पेटमे भूल से जमा होती रही है। इसके लिए वे दस्त और कै का सहारा लेते हैं। अगर इससे भी नफा होता नहीं देखते तो नस-फसद खोलकर खून छितराते हैं और मरीज को सुख-शान्ति पहुचाने मे कामयाब हो ही जाते हैं। चबाकर खाने पर कौन समझदार जोर नहीं देता? चबाना, खाना छितराने के सिवा और चीज ही क्या है? जिन्हें चबा-चबाकर खाने की आदत है उन्हीं से पूछिये, वे आपको बताएंगे कि खाने का सच्चा सुख और खाने की चीजों का सच्चा स्वाद उसी तरह मिलता है और उन्ही को मिलता है। उनको कोई सुख नहीं मिलता जो बड़े-बड़े कौर मुह में रखकर निगल जाते हैं। उन्हे न खाना खानेका सुख मिलता है और न हजम करने और रस बनाने का।

सास लेने मे इतना आनन्द नहीं आता जितना सास बाहर फेंकने में। सास लेना यानी हवा को एक कोठरी में इकट्ठा करना। सास फेंकना यानी हवाको छितराना। सास फेंकने मे हम उस जहरको निकाल फेंकते है जिसको हम अपनी भूलों से अन्दर जमा करते रहते हैं। फिर सास को फेकने यानी हवा को छितरा देने मे हमे सुख मिलना ही है! प्रकृति हमें तन्दुरुस्त बनाये रखनेके लिए जमा करनेका काम भी करती है, पर बिखरने बिखराने का काम ज्यादा करती है। इस तरह वह थोडी देर दुखी रखकर ज्यादा देर सुखी रखना चाहती है। हम उसके तरीकों पर न अच्छी तरह से नजर डालते हैं और न उससे कोई सबक लेना चाहते हैं। फिर यह कैसे समझा जाय कि हम सुख-शाति चाहते हैं!

आइये, अब जरा हुकूमती कामों की तरफ आयें। हुकूमत जब समाज को सुख-शाति पहुचाना चाहती है, तो ऐसी भीड को पुलिस की लाठियों से छितरा देती है, जिसपर उसको शक होता है कि वह जनता की

शाति को भंग करनेवाली है। इतना ही नहीं, अच्छे से अच्छे काम के लिए जमा होने वाली भीड की देख-रेख के लिए सरकारी पुलिस का इत-जाम रहता ही है। अगर कही किसी वजह से सरकारी पुलिस वहां नही पहुच सकती तो भीड़ जमा करने वाले पहले ही से अपनी पुलिस तैयार रखते हैं। जिसको वे स्वयंसेवक दल का नाम दे लेते हैं। इसका यही मतलब है कि भीड़ जमा करने वालों को भीड़ पर पूरा एतबार नही रहता। वे खूब समझते है कि जहा भीड़ इकट्ठी होगी वहा ऊधम होगा ही। भीड में ऊधम का ना होना अचरज माना जा सकता है। पर ऊधम का होना तो मामूली बात माना जायगा! भीड मे फिर चाहे वह धर्मात्माओं का मेला ही क्यों न हो गठकटों और जेबकतरों की खूब बन आती है। लुच्चों और लफंगों की मौज रहती है। भीड को ऐसे ही समझिये जैसे गहरी अंधेरी रात, जब चोरों की बन पड़ती है।

सरकार ने अमन और शाति रखने के जो कानून बनाय है उनमें से एक है दफा १४४। जिसकी यही मनशा है कि भीड़ न इकट्ठी होने पाय और अगर इकट्ठी हो तो छितरा दी जाय। इस कानून की रू से पाच-छः आदमी भी भीड समझे जाते हैं। अब तो सरकारी कागजों से भी यह साबित हो गया कि सुख-शाति छितरा कर ही फैलाई जा सकती है। एक मुल्क कितनी ही अच्छी नियत से दूसरे मुल्क से लगती अपनी हद मे अगर फौजें इकट्ठी करता है तो वह दूसरे मुल्क की सुख-शाति भंग करता है।

दूसरे मुल्क को तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक कि उसका पड़ौसी मुल्क अपनी इकट्ठी हुई फौजों को वहां से न हटा ले। उन्हें छितरा या बिखरा न दे। अगर पड़ौसी मुल्क किसी तरह इस पर राजी नहीं होता तो फिर वह उसी तरह अपने मुल्क की हद में फौजें इकट्ठी करता है। अगर जोरदार हुआ तो पड़ौसी मुल्क की फौजों को ढकेल कर हटा देता है। छितरा देता है या खत्म करके बेकार कर देता है। अगर जोरदार हुआ तो पड़ौसी मुल्क डरकर ही अपनी फौजे

हटा लेता है और छितरा देता है। यानी दुःखी और अशान्त मुल्क काटे से काटे को निकालता है। जो काटा पांव में लगा होता है वह भी कांटा है और जो उस कांटे को निकाल रहा है वह भी कांटा है। कांटा अगर दुःखदाई होने की वजह से बुरा है तो वह पांव में लगा हो तो भी बुरा है और हाथ मे हो तब भी बुरा है। हाथ वाला कांटा ही कब पैर वाले कांटे को बिना पांव को दुःख दिये निकाल पाया है! इसलिए फौजों का इकट्ठा होना हर तरह दुखदाई है। उनका बिखर जाना हर तरह सुखदाई है।

हवाई जहाज से गिरने वाले मामूली बम से ही नहीं एटम बम से बचने के लिए भी सब से अच्छी तजवीज यही है कि समाज बड़े बड़े शहरों में जो जमा हो गया है, वह पांच-पांच और दस-दस घर वाले गावों में छितरा दिया जाय। बस, एटम बम का खतरा दूर हो गया। यह किस तरह? यह इस तरह कि एटमबम इतना कीमती होता है कि उसे दुश्मन पांच-दस घर वाले गांव पर गिरा कर टोटे में रहेगा। इसलिए वह बम गिराने की वेवकूफी कभी नहीं करेगा।

इसी सिलसिले में यह भी समझ लेना चाहिए कि ये बड़े-बड़े कल कारखाने, समाज के उन सदस्यों के लिए, जो उसमें काम करते हैं बेहद दुःखदाई हैं, पर इसकी चर्चा अभी हम नहीं करते। अभी तो हम यह बताना चाहते हैं कि ऐसे कल कारखाने हुकूमत के ख्याल से भी बड़े दुखदाई हैं। दुश्मन के बम उनपर गिर कर करोड़ों की रोजी का एकदम खातमा कर सकते हैं। यहीं कल कारखाने छितर कर छोटे रूप में, गांव के घरों में रहटी, चरखा, धुनकी, करघे, कोल्हू और कढ़ाव का रूप ले ले तो दुश्मन सकपका जाय और देश भी एकदम करोड़ों की रोजी न खो पाय। फिर न कपड़े के बिना नंगा रहे और न शक्कर के बिना उदास।

जिनको जताने के लिए हम ये बातें लिख रहे हैं वे हम से ज्यादा अच्छा समझते हैं। अगर हम में इन बातों के बारे में एक मन विश्वास है तो उनमें एक रत्ती भी नहीं! इसी वास्ते जानते हुए भी

वे इस पर अमल नहीं करते। अक्ल विश्वास को आसानी से कबूल नहीं करती। किसी ने ठीक ही कहा है "अक्ल जब आती है, आती है ठोकरें खाने के बाद"। गोरी पलटनों ने एक लड़ाई हारकर ही पतलून की जगह नेकर को अपनाया। कारखानों के छितराने की बात भी तजुरबे के मास्टर के मुह से ही सीखने पर चित्त पर अंकित हो पायगी। हो सकता है कि वह सबक इतनी देर से मिले कि हम हाथ मल कर रह जायं। तभी तो हम कह रहे हैं कि समाज सुख-शांति नहीं चाहता।

अंग्रेजी सरकार ने अच्छी नियत से न सही, किसी भी नियत से आनरेरी मजिस्ट्रेटों की बुनियाद डाली। इस तरह एक जगह इकट्ठी हुई इन्साफ करने की ताकत को छितराया। जिससे डिप्टी कलक्टरों और ज़िला मजिस्ट्रेटों को थोड़ा सा सुख मिला। जनता को भी कुछ सुभिता हुआ। अंग्रेजी सरकार यह नहीं चाहती थी कि हुकूमत की ताकत या इन्साफ की ताकत उसके हाथ से निकलकर हिन्दुस्तानियो के हाथ में जाय। हिन्दुस्तानी जनता के हाथ में देने की बात तो वह कभी सपने में भी नहीं सोच सकती थी।

अंग्रेजी राज में हम दुखी थे। पर हम दुखी थे, यह हमें पता कहा था ? यह तो भूले-भटके, कभी-कभी कांग्रेस के कुछ उग्र नेता शहर के इने-गिने पढ़े-लिखों के जी में यह बिठाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अंग्रेजी राज में दुखी हैं। उनकी समझ मे कुछ-कुछ आता भी था। पर जब वे अपने हजारों-लाखों रिश्तेदारों में से और हजारों-लाखों जान-पहचान वालों में से, किसी एक को भी नायब तहसीलदार देख लेते थे तो सब दुख भूल जाते थे। सुख-शान्ति की कोशिश नहीं करते थे। दुख देखते देखते उसी को वह सुख समझने लगे थे। चोटी के दस-बीस समझदार समझने थे कि जो कहते थे जबतक ताकत कुछ लोगों के हाथ मे इकट्ठी रहेगी तब तक देश सुखी नहीं हो सकता। पर उनकी सुनता कौन था ? जिस अंग्रेज ने हिन्दुस्तान में बिखरी पंचायती-ताकत को एक कलम से

खत्म कर दिया, वही सबसे ज्यादा समझदार अंग्रेज था और वही हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा दुश्मन था जो हिन्दुस्तान के सुख को अगस्त्यमुनि की तरह एक चुल्लू मे पी गया ! उसके बाद हिन्दुस्तान को कभी सुख-शान्ति का स्वाद नहीं मिला। दुख दर्द को ही वह सुख-शान्ति समझने लगा।

○

सुख और शान्ति (२)

❀

सन् १९२० में हिन्दुस्तान के सन्त ने लोगों को सुख-शान्ति का ज्ञान कराया। उसे हिन्दुस्तान के पांव में लगे काटे को निकालना था और वह काटा तो काटे बिना निकल नही सकता था। यह ठीक है कि उसने अपनी समझ में मुलायम काटे से काम लिया पर वह इतना सख्त तो ज़रूर था कि काटा निकालने के काम में न मुडता था, न ढीला पड़ता था। वह था काग्रेस का संगठन। उस संगठन के नियमो को पढ़कर देश-बन्धु दास तो फढ़क उठे थे। कह बैठे थे कि यह तो नई सरकार गढ़ी जारही है!

सन् '२० और '२१ मे काग्रेस ने सारी ताकत फिर चाहे वह हुकूमत की हो या इन्साफ की, अंगरेज के हाथ से छीन ली थी। गाव-गाव में नहीं तो शहरों-शहरा और जिलों-जिलो मे छितरा दी थी। जिला काग्रेस का प्रेसिडेएट आपो-आप जिला मजिस्ट्रेट बन बैठा था। अंग्रेज जिला मजिस्ट्रेट अपनी कचहरी में हाथ पर धरे रहता था। यही हाल कुछ सूबे के सूबेदारों का था। और यही वे दिन थे कि जब अंगरेजी राज रहते हुए भी हिन्दुस्तानी बेहद सुखी थे। क्यों कि हुकूमत और

इन्साफी ताकत छितरकर करोड़ों नहीं, लाखों भी न सही तो हजारों के हाथों में जरूर बट गई थी। वह सच्ची ताकत थी।

उस ताकत ने लोगों को हाथ का पक्का और लंगोटी का सच्चा बना दिया था। अंग्रेजी ताकत नाम को रह गई थी। असली ताकत सब हिन्दुस्तानियों के हाथ में थी। धीरे-धीरे किसी वजह से वह ताकत हिन्दुस्तानियों की मुट्ठी में न रह पाई और शायद इस वजह से कि वे उसके आगे गाव में न छितरा पाये, वह फिर अंग्रेजों के हाथ में पहुच गई। बरसों तक उन्हीं के हाथ में ज्यों की त्यों सुरक्षित रही।

सन् '२० और '२१ जैसे सुख का मजा हिन्दुस्तान की जनता फिर कभी न ले पाई। सन् '४७ में अंग्रेज हिन्दुस्तान छोड़कर चल दिये। बेशक वे हुकूमती और इन्साफी ताकत अपने साथ नहीं ले गये। पर उसे अपने से भी कम तादाद वाली छोटी जमात के हाथ में वे सौंप गये। इस तरह वे हिन्दुस्तान को और भी ज्यादा दुखी बना गये। हिन्दुस्तान के सन्त ने उन दिनों के वाइसराय माउण्टबेटन से बहुत चाहा कि वे एक छोटा-सा काम तो जनता के सुख का अपने हाथ में कर जायं और वह यह कि नमक कर को अपने हाथ से खत्म कर दे। बर्तानिया के सर पर, महात्मा गांधी के शब्दों में, इतने बड़े यश का मुकुट बांधने के लिए वे राजी न हुए।

अंगरेजों के चले जाने के बाद सुख-शान्ति फैलाने की जितनी तड़प उस सन्त में थी, उसकी चौथाई भी उन सब में नहीं थी जो हिन्दुस्तान को आजाद करने की खातिर उसके साथ-साथ या उससे अलग हथेली पर सिर लिए फिरते थे। वह वही सन्त था जो अपने सब संगठनों को छितरा देना चाहता था। किसान की तरह अपने हरेक साथी को, अनाज के दानों की तरह जीते जी राजनीतिक शक्ति के ख्याल से जमीन में दफन कर देना चाहता था। या दूसरे मानों में वह अपने एक-एक साथी को सौगुना बलवान् या सौ में बदल देना चाहता था। वह तपस्या से पाई ऋद्धि-सिद्धि को सच्चे व्यापारी की तरह

मेहनत से कमाये एक-एक सिक्के को व्यापार में लगा देना चाहता था, सूद पर उठा देना चाहता था। वह निकम्मी और जल्दी नष्ट होने वाली राजसत्ता को बिखरा-छितराकर सकम्मी और कभी न नष्ट होनेवाली नीति-सत्ता में बदल देना चाहता था।

वह आत्मबल का विश्वासी था, नीतिबल का पुतला था। वह समझदार होने के दिन से मरने के दिन तक राजबल को ठुकराता रहा। सत्य तथा प्रेम बल को गले लगाता रहा। क्या वह अपने साथियों को सत्यबल और प्रेम बल के अलावा कोई दूसरा बल अपनाने की सलाह दे सकता था। राजबल का इच्छुक हिन्दुस्तान में कौन नहीं ? राजबल के इच्छुकों की खोज करने की कहां जरूरत ! उनके लिए विज्ञापनों पर पैसा खर्च करना, पैसे का दुरुपयोग करना है। इस बीसवीं सदी में जब एक सक्के का छोकरा यानी कहार का लड़का अफगानिस्तान के खानदानी बादशाह अमानुल्ला के हाथ से अफगा-निस्तान की गद्दी छीन सकता है और अफगानिस्तान पर बरसों न सही कुछ महीनों राज कर सकता है। ऊंचे से ऊंचे पढ़े-लिखों को अपनी उंगली के इशारों पर नचा सकता है तो हिन्दुस्तान का भी गगुआ तेली, मुहम्मदा कुंजड़ा, कलुआ कुम्हार और रमजानो भिश्ती राजसत्ता लेने के लिए मिल सकते हैं। वक्त पड़ने पर जिलों को ही नहीं सूबों को भी सम्भाल सकते हैं। हिन्दुस्तान में रामराजू और चीतू पाडों की कमी नहीं है।

पर ऐसे रामराजू और चीतू पाडे डाक्टरों के ढूढे नहीं मिल सकते। उसके लिए संत की आख ही नहीं संत की श्रद्धा और चाह भी चाहिए। मुझे जैसे दुनिया में और नहीं कहने वालों को हिन्दुस्तान में ही नहीं दुनिया भर में ऐसे आदमी नहीं मिल सकते जो उनकी जगह ले सकें ! उसकी जगह भरने का अगर कोई छातीपर हाथ रखकर दावा कर सकता है तो या तो वह यमदूत होगा या उन्हीं का कोई सगा सहोदर होगा। राजसत्ता चलाना कितनी ही टेढ़ी खीर क्यों न हो पर नीति-बल और सचाई की

धाक जमाना उससे भी सवा टेढ़ी खीर है। राजसत्ता में अगर जान जोखम है तो बेहिसाब नकली आदर और बेहिसाब दुनियादारी का सुख भी है। तभी तो उनके लिए हर 'मैं' और 'तू' लालायित रहता है। दुनिया भर की मुसीबतें झेलने के लिए सबसे आगे चलता दिखाई देता है।

नीतिसत्ता मे भी अपना सुख है क्योंकि बिना सुख के कोई उसकी तरफ क्यों दौडेगा ? पर जो सात्विक सुख है, आत्मसुख है, वह अपने आपको तो खूब दिखाई देता है पर अपने जान-पहचान वालों, रिश्तेदारों यहा तक कि अपने सगे-सहोदरों और आत्मजों तक को नहीं दिखाई देता। वह नीति सत्ताधारी खुद भी न उसे दूसरों को दिखा सकता है और न समझा सकता है। जितनी-जितनी वह उनको समझाने की कोशिश करता है उतनी-उतनी ही वह नई आफत अपने सिर मोल लेता है। विश्वास की जगह उसका लोगों को अविश्वास हो जाता है और वह उसे छोड़कर राजबल अपनाने के लिए भाग खडे होते हैं।

वह यह समझ ही नहीं पाते कि एक मा बाहरी सुख को त्याग कर और भीतर के सुख को अपना कर ही बालक को बाहरी सुख पहुचा सकती है। आम दुनिया यही समझती है कि वह खूब धन कमाकर गरीबों में उसे बाट सकती है और उनको धन सुख पहुचा सकती है। या वह बड़ी राजसत्ता हाथ मे लेकर ही लोगों को राजबल बाट सकती है और राजसुख पहुचा सकती है। आम दुनियादारों की इस तरफ निगाह ही नहीं जाती कि वह धन त्याग कर और उसे बिखरा कर दुनिया को सच्चे मानों मे सुखी बना सकते हैं। राजसत्ता त्याग कर दुनिया को सच्चे मानों में राजबल शाली बना सकते हैं।

न जाने क्यों राजनीति के पंडितों को राजाओं का सीधा-सचा इतिहास ठीक-ठीक सबक नहीं देता। उन्हे मालूम है कि जब ब्रतानिया की ताकत राजा नामधारी एक आदमी की मुट्ठी मे थी तब ब्रतानिया इतना सुखी नहीं था जितना तब जब वही ताकत राजा के कौंसिल नाम वालों

पाच-सात आदमियों की गोष्ठी में बंट गई थी। क्या उनको यह नही मालूम कि बर्त्तानिया तब उतना सुखी नहीं था, जब कौंसिल और राजा में बिखरी ताक़त उसपर राज कर रही थी, जितना तब जब कि वही ताकत पार्लियामेंट के दो घरों के सैकडो सदस्यों में बंट गई थी। क्यों इसी के आधार पर अब हम नहीं समझ लेते कि आज की दुनिया का दुख और ज्यादा सुख मे बदल सकता है अगर वही राजसत्ता गाव-गांव मे छितरा दी जाय। और हर गाव को सब बातो के लिए न सही तो बहुत सी जरूरी बातो के लिए छोटे-छोटे जम्हूरी राज्यों को यदि रिपब्लिकों का रूप दे दिया जाय। अगर हम आज ऐसा नही करते तो न हम सुख शान्ति को पहचानते हैं और न सुख-शान्ति चाहते हैं।

सत्ता हाथ से छोडना मामूली काम नहीं है। वह और अपनाई जा सकती है, छोड़ी नहीं जा सकती। सत्ता छोड़ना, शराब और अफीम छोडने से हजार गुना नहीं, लाख गुना मुश्किल होता है।

अंग्रेज़ने हिन्दुस्तान के साथ खरे शब्दो को सबसे बड़ी दगा की है या राजनीतिक शब्दो मे सबसे गहरी चाल चली है तो वह यह कि वह हिन्दुस्तान के मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में सत्ता थमा कर गया है। उसका वश चलता तो वह उसको अकेले हैदराबाद के निज़ाम के हाथ में या उदयपुर के महाराणा के हाथ में या इधर-उधर से लाये किसी और राजा नवाब के हाथ मे या और न सही विक्टोरिया के खानदान के किसी जार्ज एडवर्ड के हाथ में थमा कर जाता। पर सन्त के रहते इस तरह की चाल चलने की वह न सोच सका।

यह ठीक है कि अंग्रेज मुट्ठी भर आदमियों के हाथों में सत्ता तो दे गया है पर वे हैं देवता-स्वरूप। तभी तो वे खुले हाथों अपनो को ही नहीं गैरों को भी बॉट रहे हैं। पर यह याद रहे कि वे कितनी ही अपने और गैरों में उसे बांटे, उससे ज्यादा नहीं छितरा सकते जितनी अंग्रेज अपनों में छितराये हुए था। गैरों में कुछ को बाट कर करोड़ों को ललचाये हुए था। अगर आज हमारे मुट्ठीभर सत्ताधारी उसे अंग्रेज से ज्यादा खुले हाथों

बांट रहे हैं, अगर वे दस सेर बांट रहे हैं तो बीस सेर जनता के हाथ से छीन रहे हैं।

इसलिए इस खुले हाथ बंटवारे में भी राजसत्ता के मैदान में टीले और ऊंचे होते चले जा रहे हैं। तालाब और गहरे होते चले जा रहे हैं। असमता तेजी से बढ़ रही है। सुख-शान्ति पैरों में पंख लगाये हिन्दुस्तान की ओर पीठ किये, निकलते सूरज की ओर बढ़ती चली जा रही है। देखें कब पीछे मुड़कर देखती है।

जैसे काजल की कोठरी में घुस कर कोई काला हुए बिना नहीं रह सकता वैसे ही राजसत्ता की कोठरी में घुस कर कोई बौखलाये बिना नहीं रह सकता। राजसत्ता की मदिरा पीकर कोई राजसत्ता की प्यास नहीं मिटा सकता। वह अपने हाथ से राजसत्ता की मदिरा का प्याला कभी नहीं फेंक सकता, होंठ से हटा भी नहीं सकता। उस का प्याला तो उस का कोई सच्चा हितैषी ही उस के हाथ से छीन सकता है। कोई सन्त ही उसके प्याले और बोतल, दोनों को तोड़ फेंक सकता है। अगर ऐसे हितैषी या सन्त अशोक की तरह उन मुट्ठी भर सत्ताधारियों को न मिले तो फिर कोई उन जैसा ही उन के बराबर वाला उनके हाथ से छीन कर प्याले को अपने मुंह लगायगा, बोतल छीन कर बगल में दबा अपनों के प्यालों में उंडेलेगा

हिन्दुस्तान की राजसत्ता एक कीली के चारों तरफ घूमती चली जा रही है। हर छोटे-बड़े में एक लहर दौड़ गई है कि वह आवाज लगाकर यही कहता फिरता है कि सब बज वहीं थोपे जाओ वहीं थोपे जाओ, और वहीं थोपे जाओ। कीली सचमुच बड़े काम की चीज होती है। खूंटा बड़ा सहारा होता है। पर वह तभी सहारा है जब मैं अपनी भैंस का पगहा अपने आप उस खूंटे में बांधू। खूंटा जानदार हो और मेरे हाथ से मेरी भैंस का पगहा छीन कर अपने में बांध ले तो वह सहारा नहीं वह तो ढकेला कहलायगा।

आज हिन्दुस्तान मे क्या हो रहा है? आज केन्द्र जानदार खूंटा बना हुआ है। उससे जनता अपनी भैंसे नहीं बांध रही, वही पगहा छीन-छीन कर भैंसों को बाधे हुए है। भैंसें प्यासी हैं, वे खूंटे से खोली नहीं जातीं इसलिए गर्दन तोडाती हैं! वे भूखी हैं, चरने के लिए खोली नहीं जातीं, इसलिए वे रस्सा तोडाने की कोशिश करती हैं। यह ठीक है कि आज केन्द्र का खूंटा, खूंटा नहीं है; वह तो दीवार में सटाया हुआ बेंटा है। कोई भैंस उसे कितना ही जोर लगाकर उखाड़ नहीं सकती। पर इसका क्या भरोसा कि पगहा भी इतना मज़बूत है या गर्दन की गाठ भी इतनी ही सख्त है कि वह भैंसे के ज़ोर का पूरी तरह मुकाबला कर सकेगी? हो सकता है कि पगहा इतना ही मजबूत हो। पर इसकी ही क्या गारन्टी है कि भैंसवाले खड़े-खड़े इस गर्दन तुड़ाने के तमाशे को चुपचाप उस समय तक देखते रहेंगे जिसकी कोई मियाद बॅधी नहीं है।

किसी समय यह केन्द्र से बंधने की धत और धुन भली हो सकती है। पर आज तो वह नहीं है। और कुछ बातों के लिए आज भी हो पर हर छोटी बड़ी बात के लिए आज वह कैसे भी नहीं है। हम आज ही की बात कह रहे हैं। आज तो इस बात की बहुत बडी ज़रूरत है कि सत्ता को हद से ज्यादा बिखेरकर जनता को सुखी और शान्त बनाया जाय। तभी तो राष्ट्र के पिता सत्ता को सीधे बिखराने की योजना ऐन मरने के दिन कांग्रेस के सामने रखा गये थे। हम तो जोर इसी पर देना चाहते हैं कि किसी तरह का भी बल क्यों न हो, इकट्ठे होने से दुखदाई होता है और बिखर जाने से सुखदाई। बस, राजसत्ता बिखर कर ही, पर-तरीके से बिखर कर ही हिन्दुस्तान में सुख-शान्ति फैला सकती हैं। सुख-शान्ति का स्वाद पाकर ही जनता उसकी कदर करना सीख सकती है, उसको सरसाने में लग सकती है, उसके बनाये रखने की योजनाओं में जुट सकती है और उसपर आफत आने पर सरसे कफन बांधकर उसकी रक्षा के लिए निकल सकती है।

जान लेने की तैयारी से कभी किसी ने देश की रक्षा नहीं की। जान देने की तैयारी से ही देश की रक्षा हुआ करती है। जान देने के लिए वही तैयार हो सकते हैं जिन्हें सुख-शांति की चाट पड गई हो। और सुख-शान्ति सचाई और ईमानदारी के साथ अपने बल को दवाने और अन्याय को दबाने के सिवा और है ही क्या चीज़?

सुख-शान्ति ही सब कुछ है। उसी को जानना और समझना चाहिए। उसी को पाना सब कुछ पाना है। उसको पाकर अपने पर पूरा अधिकार हो ही जाता है। अपने पर अधिकार करना ही सुखी होना और औरों को सुख-शान्ति बाटना है।

: नौ :

यह असमता क्यों ?

डाकू से लेकर सन्त तक, रंक से लेकर राजा तक, मरियल से लेकर पहलवान तक, मूरख से लेकर महापण्डित तक सब एक ही तरह से मां की कोख में जगह पाते हैं, एक ही ढंग से जन्म लेते हैं, एक ही तरह रोते-हंसते और दूध पीते हैं, एक ही धरती माता के दिये टुकड़ों पर पलते-पुसते हैं, एक ही तरह की हवा और धूप लेकर फलते-फूलते हैं और एक तरह का पानी पीकर ताज़गी हासिल करते है।

फिर यह क्या बात है कि कोई डेढ़ हाथ का बौना रह जाता है और कोई पछैत्था जवान बन जाता है कोई गंगुआ तेली रह जाता है और कोई राजा भोज हो जाता है। कोई आये दिन दरदर की ठोकरें खाता फिरता है और कोई अपने दरवाजेपर आये हुए सफेद पोशो को दर्शन देता और अपने पांव पुजवाता है।

ये ऐसी बातें हैं कि छोटे-बड़े सभी को खटकनी चाहिएं। पर अचरज तो यह है कि सौ मे से एक के मन में भी इस तरह की खटक नहीं पाई जाती! आज के समाजवादियों ने और साम्यवादियों ने सौ मे से एक दो में एसी खटक पैदा की तो है पर उस खटक में बनावट बहुत है। और

वह अपने ढंग की अलग होते हुए भी हमें बेढंगी और बेतुकी जंचती है। उस खटक में बाहरी कौंच बेहद और भीतरी कौंच नाम को भी नहीं। वे राजा को गद्दी से हटाकर, उस की गद्दी पर जमकर, रंकपने को मिटाना चाहते हैं। उनका यह कार्य उस बीमार जैसा है जो उठ-बैठ नहीं सकता और इस वजह से उसके हकीम ने उसके खाने के लिए बिना चिकनाई की पतली खिचड़ी तजवीज कर रक्खी है, और वह अपनी खिचड़ी खाते खाते किसी पहलवान के हलवे के थाल पर जा लपटे और ज्यादा खाने के बाद यह मानने लगे कि वह तन्दुरुस्त हो गया। जिस तरह वह मरीज टोटे में रहेगा, उसी तरह से यह रंक भी राजा की गद्दी हथिया कर और ज्यादा रंक बन जायगा! ऊपर से पैदा हुई खटक जो रंग लाती है वह न एक के लिए अच्छा होता है और न समाज के लिए। ऊपर की खटक एक आदमी को यह सोचने समझने का अवसर ही नहीं देती कि वह क्यों रंक रह गया। वह रंकपने को किसी की देन समझता है। वह यही समझता है कि यह राजा के हाथ में है कि वह जी चाहे जिस को सिपाही की वर्दी पहनादे, जी चाहे जिसको हवलदार की और जी चाहे जिसको सेनापति की। उसको यह पता ही नहीं कि सिपाही, हवलदार और सेनापति की वर्दियां यों ही नहीं बांटी जाती हैं। सिपाहीपने की परख के बाद वर्दियां मिलती हैं। वैसे ही परख की कसौटी पर हवलदार और सेनापति भी कसे जाते हैं, तब वे उस वर्दी के हकदार बनते हैं।

जिस आदमी में बाहर से खटक पैदा की गई है उसे इतने गहरे पानी में जाने की जरूरत क्या! बाहरी खटकवाला तो बाहरी सीधा रास्ता ही अख्तियार करेगा। वह यही कि राजा को गद्दी से ढकेलो तो एक क्षण में राजा बन जाओ। हो सकता है कि इस तरह के काम से किसी को थोड़ी देर के लिए छोटी-मोटी सफलता मिल जाय। सारे समाज की भलाई चाहने वाले की नजर इस ओछी बनावटी सफलता पर भूले-भटके पड़ भी गई तो टिक न पायगी। वह ऐसी छोटी सफलता से न कोई सीख ले सकता

है और न कोई ऐसा अटल सिद्धात बना सकता है, जो समाज के सब आदमियों पर अलग-अलग काम में लाया जा सके।

राजा तो गिनती का एक होता है,वह सब रकों को राजा की गद्दी नहीं दिला सकता, और न उसे ठीक समझता है। वह यह जरूर मानता है कि हर रक में राजा होने की योग्यता है। एक ने ही उस योग्यता को बरसों धोया-पोछा और जाचा-माजा है, तब किसी ने राजा का मुकुट उस के सिर पर धरा है। उसने अपनी पहले की तपस्या के बलपर उसे स्वीकार कर लिया है और ठीक ढंग से संभाले हुए है। वह देखने के लिए राजा बनता था न बनता, उसका रंकपना दूर हो चुका था। वह पहले ही से राजा था। सिर्फ लोगों ने उसे अब राजा कहा। यही सच्ची बात है।

जो अन्दर से राजा नहीं है वे राजा की गद्दी पर ज्यादा देर तक नहीं टिक सकता। जो अन्दर से राजा है, वह जहा है वहीं उसके लिए राजगद्दी मौजूद है। दुनिया मुर्गी को दाने और राजहंस को मोती चुगाती है। राजा और रक समझदारों की नजरों से छिप नहीं पाते। जिस तरह हंस नहीं चाहता कि उसे कोई हंस कहे, उसी तरह से जो भीतर से राजा है उसे राजा कहलवाने की इच्छा नही होती। बालकपन और बूढ़ेपन की तरह से रंकपना और राजापना आदमी के मनकी अवस्थाओ का नाम है। रंकपने का और कुछ अर्थ ही नहीं है, सिर्फ यह समझना है कि मैं रंक हूं। रक को इस अनन्त सुख से भरी दुनिया में दुःख ही दुख दिखाई देता है। बीमारी में जिस तरह हमारा सब देह टूटने लगता है और हम यह चाहने लगते हैं कि देह न होता तो हम बडे सुखी होते। उस वक्त हम यह भूल जाते हैं कि दुनियादारी के सुख को हम इस देह के बिना अनुभव ही नही कर सकते। ठीक इसी तरह से रंक को दुनिया के सब सुख, दुख ही दिखाई देते हैं और वह चाहने लगता है कि ये सब न होते तो अच्छा था। उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि इन सबके बिना वह कितना दुखी बन जायगा। जिसके मन में सारे समाज को सुखी देखने की इच्छा प्रबल होती है, वह सुख के कारण को

बाहरी चीजों में नहीं ढूंढता। वह अन्दर नजर डालता है और वहां उसको वे कारण मिल भी जाते हैं। वह रंक और राजा की बात को सोचकर ही नहीं रह जाता। वह अपने मन में तरह-तरह के सवाल उठाता है। एक रंक राजा की गद्दी तो ले सकता है पर राजकाज नहीं चला सकता। एक लठैत लठ के बलपर किसी सौदागर की दूकान का कब्जा ले सकता है, उसके धन पर कुछ दिनों रंगरेलियां उड़ा सकता है; पर दूकान को ठीक ढंग से चला नहीं सकता। एक अपढ़ किसी प्रोफेसर की कुर्सी पर जा डट सकता है, पर सिवाय इसके कि वह विद्यार्थियों के खिलवाड़ की चीज बन जाय, उन्हें बता क्या सकता है? इस तरह के विचार उसे ऐसी जगह पहुंचा देते हैं जहां पहुंचकर समाज में फैली हुई असमता का ठीक-ठीक कारण वह समझ जाता है। अब उसको असमता में ही समता दिखाई देने लगती है। वह समझने लग जाता है कि चींटी और हाथी में एक सी आत्मा है। चींटी किसी तरह भी हाथी के देह को नहीं संभाल सकती। न हाथी की आत्मा में इस वक्त इतनी ताकत है कि वह चींटी के देह में समा जाय। इस तरह के विचार उसे इस तत्त्व पर ले जाते हैं कि वह आदमी की यह जांच करे कि आदमी कितने अंश में स्वाधीन और कितने अंशों में पराधीन है।

इसमें आदमी का क्या वश कि वह हिन्दुस्तान में पैदा हुआ। हिंदुस्तान में पैदा होने के नाते वह हिंदुस्तानी कहलाने लगेगा। अब वह हिंदुस्तानियों का अपना और चीनियों, जापानियों, रूसियों का पराया बन जायगा। अब वह कितना ही उन लोगों को प्यार करे उनका अपना नहीं हो सकता! कुछ चीनी, रूसी, जापानी समझदार, तरह-तरह की आड़ी टेढ़ी परख के बाद उसे किसी तरह अपना मान भी लें पर सब तो नहीं मानेंगे। उन मुल्कों की हिंदुस्तान के साथ लड़ाई छिड़ जाने के बाद तो वह समझदारों की नजर में भी उनके मुल्क का दुश्मन समझा जाने लगेगा! अगर वह इन मुल्कों में से कहीं हो तो कैद करने के

सिवाय उसके लिए कोई जगह न रह जायगी ! उसका हिंदुस्तान में पैदा होकर हिंदुस्तानी होना भर काफी सबूत है कि वह चीनी, जापानी, रूसी नहीं है। अगर वह इनमें से कोई एक बनता है तो वह धोखेबाज है, धोखा देना चाहता है। अगर सच्चा है तो देश-द्रोही है ! अब बताइये कि हिंदुस्तानियत जो उसकी मरजी के बिना उस पर थोप दी गई है उसका वह क्या करे ? वह उसके लिए बला बन गई है। फिर तुर्रा तो यह कि इस जबरदस्ती थोपी हुई चीजपर आदमी अभिमान की बडी से बड़ी हवेली खड़ी कर लेता है ! यह जबरदस्ती की हिंदुस्तानियत जिसके गढ़ने में आदमी का जरा सा भी हाथ नहीं है, असमता का बीज बन बैठती है। इस बीज के बीजदान को जलाये बिना असमता की बेल को उगने से नहीं रोका जा सकता।

आदमी का इसमें क्या वश है कि वह एक हिंदू घर में पैदा हो। अब उसे चाहे-अनचाहे अपने को हिंदू कहना पड़ेगा। कुल के अनुसार चोटी रखानी होगी, जनेऊ पहनना पड़ेगा और पंथ के अनुसार तिलक छाप लगाना होगा ! यह हिन्दूपन आदमी के सिर जबरदस्ती का थोपा हुआ नहीं तो और क्या है ? कोई बच्चा मा के पेट से हिन्दू या मुसलमानी निशान लेकर पैदा नहीं होता। आज तक इन्सान न कोई ऐसी मशीन बना पाया है और न ऐसे साधन जुटा पाया है, जिसपर कस कर या जिन की मदद से, वह किसी बच्चे के बारे में यह बता सके कि वह हिन्दू मा के पेट से पैदा हुआ है या मुसलमान मा के पेट से। वह हिन्दू बाप के वीर्य से है या मुसलमान बाप के नुत्के से। कुदरत ने ऐसा भेदभाव रक्खा ही नहीं। उसे क्या पता था कि यह आदमी का बच्चा जिसको उसने इस सारे पृथ्वीग्रह का मालिक बनाया है, वह इसको एशिया, यूरप के टुकड़ों में काट डालेगा। उसके हिन्दुस्तान और चीन जैसे छोटे टुकड़े कर डालेगा। फिर फाड़कर पंजाब, बंगाल जैसी थेकलिया बना बैठेगा कुदरत को यह भी क्या पता था कि वह आदमी का बच्चा जिस को उसने सारे मानव समाज का सदस्य बनाकर पैदा किया था, एक दिन इस मानव

समाज के पट को छोटी-छोटी धज्जियों में बांट देगा। उन को हिन्दू, मुसलमान,ईसाई नाम देकर इतनी असमता पैदा कर देगा कि हर धर्म का अनुयायी अपने को भेड़िया और दूसरे धर्म वालों को निरी भेड़ समझने लगेगा! यों मानव समाज फाड़खाऊ दल और फाड़ खाये जाने वाले दलों मे बंट जायगा।

कुदरत को यह भी क्या पता था कि विचार और भाषा के अनोखे जेवरों से लदा आदमी का बच्चा, और भी ज्यादा-प्रेम बन्धन में बंधने की जगह द्वेष की आग से जलकर,राख के कणों की तरह, हवा की मददसे, कण-कण में बिखर जायगा; जगह-जगह कुछ कण-पुंजों का टीला बना कर जम जायगा! फिर आये दिन एक टीले के कुछ कण दूसरे टीले में जा मिलेंगे और दूसरे के कुछ कण तीसरे में मिलेंगे या पहले में आ मिलेंगे। यह साधारण सी बात भी द्वेष की भमक के कारण झगडे की बात बन जाया करेगी!

हिन्दू, मुसलमान, ईसाईपना न प्रकृति की देन है और न मानव की सूझ। वह तो आदमी के सिर थोपी हुई बलाए हैं। न मुहम्मद साहब ने कोई नई बात कही, न कहने का दावा किया और न हजरत ईसा ही कोई नई बात कह गये थे। रही हिन्दूधर्म की बात.उसे तो किसी एक के सिर मढना आज असम्भव सा हो रहा है। वह तरह-तरह के विचारों की खान है। सब उसके लिए समान हैं और वह सब के लिए समान है। जिस तरह किसी देश मे जन्म लेना हमारे वश की बात नहीं, वैसे ही किसी धर्म में जन्म लेना भी हमारे वश के बाहर है। यह है तो है पर मुश्किल तो यह है कि हम इस बेबसी की सिर पडी बपौती को ऐसे ही अपनाते हैं मानो हमारी यह निजकी कमाई हुई चीज है! तब उसे अपने मोल आकने पर हसी आती है। बपौती से पाई चीज के साथ हम किसी तरह भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते जैसा अपनी कमाई हुई चीज के साथ। अपनी कमाई हुई चीज की रग-रग मे हमारी जानकारी होती है. उसके कमाने के हथकण्डों से हम वाकिफ होते हैं। उस के टूटने-फूटने पर उसे

सुधार-सवार सकते हैं।

इतना ही नहीं, उसके कमाने के हथकण्डे हम किसी और को भी सिखा सकते हैं। उसके बारे में हमें यह भी विश्वास होता है कि हमारी तरह से कोई और भी उसे जल्दी ही आसानी से कमाना सीख सकता है। यह जानकारी हम में अपनी कमाई हुई चीज की वजह से घमण्ड को बहुत कम पास आने देती है या बिल्कुल पास नहीं आने देती। बपौती से पाई हुई चीज के बारे में इस से एकदम उल्टा होता है। न उसे हम ठीक समझते हैं और न उसका ठीक-ठीक मोल ही आक सकते हैं। कभी आकने ही लग जायं तो हजार मे से नवसौ-निन्नानवे आदमी उस के दाम इतने आकेंगे जिसको दूसरे सुनकर दग रह जायेंगे।

यही वजह है की आदमी जिस धर्म में पैदा होता है उसकी कुछ भी जानकारी न होने से या ठीक-ठीक जानकारी न होने से उस का मोल वेहद ऊंचा आक जाता है। अगर उसे अपनी जिन्दगी में कभी पूरी तरह से उस धर्म के जाचने का मौका मिल गया, जिस में वह पैदा हुआ है, तब मूर्खता का पता लगता है। उसने भूल सिर्फ इतनी ही की होती है कि उसने अपने धर्म का मोल किसी दूसरे धर्म को सामने रख आका होता है। जब कि उसकी जानकारी दोनों ही धर्मों के बारे में शून्य होती है! पर अब, जब वह अपने धर्म की जाच सच्चे जी से करता है, तो वह उसे चमकता हुआ तो मालूम होता है, पर साथ ही साथ उसे मालूम होता है कि दूसरा धर्म भी उतना ही चमकता हुआ है। उसे यह भी मालूम होता है। क इस तरह की चमक उस के अन्दर भी मौके-बे-मौके पैदा होती रही है। पर इतनी दूर तक पहुचने का अवसर किसी किसी को ही मिल पाता है।

इसलिए उस धर्म का अभिमान, जिस धर्म मे एक आदमी पैदा हुआ है, कर बैठना किसी समय भी खतरे से खाली नहीं होता। धर्म के ऐसे अन्ध-विश्वासी जो कारनामे कर गुजरते हैं उनकी कथाओं का समूह इतिहास नाम पाता है। उस इतिहास पर हमारे जवानों की बुद्धि का

यह असमता क्यों ? (२)

चाहने न चाहने से कोई आदमी किसी अमीर-घराने में जन्म नहीं लेता। अमीर-घराने में जन्म लेना पुण्य कर्मों का भी फल नहीं होता।

यह ठीक है कि बहुत से लोग उसको पुण्य-कर्मों का ही फल मानते हैं। पर यह उनकी कोरी धींगा-धींगी है या बेमतलब की मन-समझौती है। अगर कुदरत ने, भाग्य के या ईश्वर ने, किसी बालक को उसके पुण्य-कर्मों के बदले में या किसी वजह से जान-बूझकर और सोच-समझकर, अमीर घराने में जन्म दिया होता तो अमीर घर में पैदा हुआ बालक कभी गली की धूल से खेलना पसन्द न करता गन्दी नाली में हाथ डालता तो उसे जन्म के पहले दिन से ही न सुहाता !

अमीर घर की दास-दासियां ही नहीं, उस बालक की चाची, दादी, नानी भाई-बहन यहा तक कि उसकी मा भी उसे टीन और चादी के चम्मच में तमीज करना नहीं सिखा सकती। वह कभी भी चांदी के चम्मच को फैंककर टीन का चम्मच लेना पसन्द करेगा। उसके लिए रो-रोकर सारे घर को सर पर उठा लेगा। वह चादी के चम्मच को गन्दी नाली में ऐसे ही फैंक देगा जैसे मिट्टी की डली को ! दूसरी तरफ वह मिट्टी की डली को बड़े

चाव से मुंह में देगा और देर तक मुंह में रखना पसंद करेगा। सोने की डली को वह मुंह में देगा पर शायद उतने चाव से और उतनी देर तक उसे मुंह में रखना पसंद न करेगा, जितने चाव से और जितनी देर तक उसने मिट्टी की डली मुंह में रखी थी।

माता पर बरसों उसे अमीरी सिखाने में लगा रहता है पर सफल नहीं हो पाता। बढ़िया से बढ़िया और साफ से साफ कपड़ों में उसे धूल भरने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। वह किसी-किसी काम के करने में शर्माता ज़रूर है पर वह शर्मा कर बताना यही चाहता है कि अमीरी बहुत खराब है और वह अपनाने की चीज नहीं। वह साफ कहता मालूम होता है कि रेत से बढ़कर कहीं के गद्दे नहीं हो सकते! घास से बढ़कर मखमल का कपड़ा नहीं हो सकता! फूलों से बढ़कर चांदी के बनावटी फूल नहीं हो सकते!

मतलब यह कि वह अपने हर काम से यही साबित करना चाहता है कि कुदरत ने सोच-समझकर उसे अमीर के घर पैदा नहीं किया है और न वह खुद ही सोच-समझकर वहां पैदा हुआ है। इस पैदा होने में शायद कोई भेद की बात भी हो पर वह इतनी थोड़ी निकलेगी जिसके जान लेने से इस बात के साबित करने में कोई मदद न मिलेगी कि पुण्य-कर्म के फल से कोई बालक अमीर घराने में जन्म लेता है! जो ज्यादा बात मिलेगी वह सिर्फ यही साबित कर सकेगी कि यह निरी आकस्मिक घटना है! उतनी ही आकस्मिक है जितना एक ईंट का मकान की बुनियाद में लगना या मुंडेर पर लगना।

सुख-दुख के लिहाज से भी अमीर घर में पैदा होकर ज्यादा सुख नहीं मिल पाता। बीमारियों पर अमीरी का कोई अधिकार नहीं है। अगर बीमारियों पर किसी को कुछ अख्तियार है, तो वह है सफाई को, खुली हवा को, चांदनी और धूप को। चश्मे के बहते हुए ताजे पानी को और धूप, हवा, माई, धूल और मिट्टी को। फिर और कुछ है तो ताजा-ताजा फलों को, महकते फूलों को, मीठी-मीठी जड़ों को, खटमिट्ठी पत्तियों को, चटपटी जड़ी-बूटियों को। यह सब चीजें अमीरों को बहुत कम नसीब

होती हैं। पैसे के बल पर वह इन चीजों को जुटा सकते हैं, पर जान-बूझकर नहीं जुटाते।

धूल-मिट्टी की अमीर को क्या कमी ! पर वह तो यह समझता है कि धूल-मिट्टी में खेलना गरीब का काम है ! इससे अमीरी को धक्का लगता है ! चादनी और धूप की अमीर को क्या कमी रह सकती है, पर वह तो यह समझता है कि बच्चे का नंगा रहना गरीबी की मार है ! अमीर उस मार को क्यों सहे ! इसीलिए अमीर-बच्चा तन्दुरुस्ती के सीधे-सादे साधनो से दूर पड जाता है और बीमारियो से लम्बी दोस्ती गाठ लेता है ! इससे जाहिर है कि सुख का अमीरी से कोई सम्बन्ध नही। इसलिए पुण्यकर्मो का अमीरी से कोई सम्बन्ध नही। क्योंकि पुण्यकर्म सुख के साधन जुटायेगा ! सुख के साधन जहा रहते हैं, वहा जाने में अमीर अपना हेटी समझता है !

अब यह पता चला कि अमीरी भी आदमी के सिर पर चाहे-अनचाहे थुप जाती है। अमीर-बच्चों में से सौ में से निन्नानावे यह कहते मिलेंगे कि उनकी अमीरी उनके लिए कारागार है, वे उसके कैदी हैं। जिस एक को ऐसी शिकायत नहीं होगी, उसे यह न समझिये कि वह आजाद है। असल मे वह इस योग्य ही नही है कि स्वाधीन जीवन और बन्दी जीवन में तमीज कर पाये !

इसे कौन नही जानता कि शुद्धोदन को जब अपने बेटे सिद्धार्थ का, जो आज बुद्ध नाम से जाने जाते हैं, यह पता चला गया कि वह अमीरी की धोखे-बाजियों को समझ गया है और अमीरी का मामूली जेलखाना अब उसे किसी तरह नहीं रोक सकता, तब उसने उसको भागने से रोकने के लिए ऊंची-ऊंची दीवारे खड़ी की। कहीं नाच-गाने का सामान जुटाया। बढ़िया से बढ़िया संगिनी उस के साथ बाध दी। बढ़िया से बढ़िया बाग-बगीचे उसके लिए तैयार किए गए। रथ-मंझोलियों की कोई गिनती ही न थी ! क्या इसके बाद भी किसी को शक रह सकता है कि

अमीर घर में पैदा होना,जेलखाने में पैदा होना है । क्यापुण्यकर्म ऐसा नीच काम करने की सोच सकता है !

हम यह नहीं कहना चाहते कि अमीर घराने में जन्म लेना पाप का फल है । क्योंकि यह कहकर तो हम वही भूल करेंगे जो इसको पुण्य-कर्म का फल बताकर कर रहे हैं । हम यहा पुण्य-पाप के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते । हमें तो सिर्फ इतना ही कहना है कि अमीर घर में अगर कोई आदमी पैदा हुआ है, तो इसमें उसका कोई कसूर नहीं । क्योंकि यह बात उसके बूते के बाहर की थी । कुसूर तो वह यह करता है कि इस जबरदस्ती लद पड़ी बला को, ऐसे ही अपनाता है मानो उसने बड़ी मेहनत और तपस्या से इसे पाया हो ।

इस भूल का नतीजा यह होता है कि वह अमीर और गरीब में फरक करने लगता है । जिस फरक को वह पैदाइश के साथ नहीं लाया था । यह फरक उसमें उसकी मरजी के बिना ठूंसा गया है । अब उसको वह इस तरह अपनाता है, मानो उसने उसे शौक के साथ लिया हो । यही वजह है कि वह अब अपने आप को एक ऐसी जगह खड़ा कर लेता है, जहा खड़े होकर समाज की तराजू की डंडी किसी एक तरफ को झुक जाती है । समाज की समता बिगड़ कर समाज में खलबली मच जाती है । वह नुकसान उठाता है, जो औरों को ही नुकसान नहीं पहुंचाता उसको भी आफत में डाल देता है ।

सिर पर थुपी अमीरी का घमंड करना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है । मूर्खपने के लबादे तन पर लाद कर हम समाज की सेवा के लिए निकल खड़े होते हैं ! जब उस काम में सफल नहीं होते, जिसे हम करना चाहते थे,तब अपनी असफलता का भांडा किसी और के सिर फोड़ने लग जाते हैं । यों एक और बड़ी मूर्खता कर बैठते हैं ।

हमें उन चीजों का अभिमान मानना ही नहीं चाहिए जो हमें देश, धर्म, वंश, कुल की वजह से हाथ लग गई हों ; जिनमें हमारी अपनी कमाई का जरा भी हिस्सा न हो । अगर हम किसी तरह से उनका अभि-

मान माने बिना रह ही नहीं सकते तो उनके जहर को यहां तक निकाल डालना चाहिए कि उनका अभिमान इतना ही रह जाय जितना एक नाम का। जिस तरह हमारा नाम राममोहन है दूसरे का श्यामकुमार, तीसरे का मुहम्मद अली और चौथे का डेविड है। जब हम गेंद का खेल खेलते हैं तब डेविड का नाम 'डी' पर होने से पहला दाव उसे देते हैं। श्यामकुमार का नाम 'एस' से शुरू होने से सबसे पीछे खेलता है। उस वक्त हमारी निगाह सिर्फ नाम के अक्षरों तक रहती है, इससे आगे नहीं जाती। अगर यही बात देश, धर्म, कुल, वंश के साथ हो जाय तो दुनिया का बहुत सुधार हो जाय।

असमता के मिटाने के लिए ऊपर के तीन उदाहरणों मे और भी जोड़े जा सकते हैं। देश, धर्म, कुल का खोटा अभिमान असमानता को कभी नहीं मिटने देगा। मिटने देने की बात तो एक ओर उसे उल्टा पनपाता रहेगा। इस बेमतलब की चीज को तो छूटने में ही अपना और समाज का भला है।

हम सिर से पैर तक इन्हीं जबरदस्ती थुपे गुणों के निरे बंडल नहीं हैं। हम अपनी भी कोई चीज लेकर जन्मे हैं और वह है हमारा पुरुषार्थ, हमारा व्यक्तित्व, हमारी समझ, हमारी अन्तरात्मा। हम अपने अभिमान को सब ओर से हटाकर इसी एक अन्तरात्मा या जमीर पर पूंजीभूत करदें, पानी ला इकट्ठा कर दें, तो हम बहुत जल्दी समाज में अपनी ऐसी जगह बना लेंगे जो ऊंची तो होगी पर असमानता को न पैदा करेगी। जो बड़ी होगी पर दूसरे उसे देखकर अपने में छोटे पन का अनुभव न करेंगे। जो महान् तो होगी पर समाज में से किसी एक में भी तुच्छता के पांव न जमने देगी। हमारी अन्तरात्मा अपने आप हमें ऐसे रास्ते पर ले चलेगी जहां कांटे अपने आप फूल में बदलते जायेंगे। फिर अन्तरात्मा की आजादी की ऐसी बाढ़ आयगी जैसे खरबूजों की बेल में एक खरबूजा पकने से अनेकों खरबूजे पकने का तांता बंध जाता है। थोड़ी खलबली तो इस काम में भी होगी पर वह मीठी टीस की तरह खुशी-

छुरी बरदाश्त कर ली जायगी। बच्चा पैदा होने के वक्त के दर्द की तरह, रोते हुए भी सहन करने में, दिल में गुदगुदी बनाय रखेगी।

अन्तरात्मा आपको कुएं में न जा गिरायेगा। अन्तरात्मा परमात्मा का अंश है। उससे ऐसा काम कभी नहीं हो सकता। झूठे अभिमान के साथ जो आत्मा कर बैठता है वह अन्तरात्मा नहीं होता। वह मन और मस्तक का षड्यंत्र होता है। उसे लोग नासमझी से अन्तरात्मा की पुकार कह बैठते हैं। यहूदी-ईसा की अन्तरात्मा ने जो कुछ बोला वह ईसाई धर्म नहीं है। ईसाई धर्म तो ईसा के स्वतन्त्र अन्तरात्मा की पुकार है। मुहम्मद के अन्तरात्मा की पुकार इस्लाम धर्म नहीं था और न है; वह तो मुहम्मद की स्वतन्त्र आत्मा की पुकार है। वही ईश्वरीय इलहाम है। इसी तरह से बुद्ध और महावीर भी—देश, धर्म, और कुल के अभिमान से परे होकर ही स्वतन्त्र और स्वाधीन अन्तरात्मा को पहचान सके, उसकी सुन सके। उनकी आवाज को लोगों तक पहुचा कर, किसी हद तक समाज की असमता को मिटाने में सफल हुए; समता की स्थापना करने में कामयाबी पा सके। समता के लिए अन्तरात्मा की समता सबसे ज्यादा जरूरी है। अपने भीतर की समता के बल से ही बाहर समता फैलाई जा सकती है।

❂

: दस :

सबकी भलाई

दुनिया मे दो तरह के जानवर पाये जाते हैं। एक वे जो अलग-अलग रहना पसन्द करते हैं, दूसरे वे जो मिल-जुल कर रहने में ही अपना भला समझते हैं। जो प्राणी मिल-जुल कर रहते हैं वे आपस में कभी-कभी लिड़-भिड़ भी लेते हैं। पर बहुत ही कम ऐसा होता है कि एक प्राणी अपनी जात के दूसरे प्राणी को जान से मारे। मिल-जुल कर रहने वाले किसी भी जाति के जानवरों पर अगर नजर डाली जाय तो मेल-मिलाप से रहने के खयाल से वे आदमियों से कहीं ज्यादा ऊचे दर्जे के मिलते हैं।

यह देख कर यह जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है कि वे इस रहन-सहन के मामले में आदमी से ऊचे क्यों कर हो गए? आदमी बोलना जानता है, वे बोलना नहीं जानते। आदमी बोल कर अपने मन की बात दूसरों तक पहुचा देता है, जानवर वैसा नहीं कर सकते। आदमी अपनी बोली में रस भर सकता है, जानवरों को यह कला नहीं आती। आदमियों मे से कुछ का यह दावा है कि ईश्वर उनसे बातें करता है। कुछ का दावा है कि ईश्वर उनके सामने खड़ा दिखाई देता है। जानवर ईश्वर के बारे में ऐसी बात न सोच

सकते हैं और बोलना न आने से कह तो सकते ही नहीं। आदमी ने धर्म की किताबें लिखीं, जानवरों के पास ऐसे ग्रन्थ हो ही नहीं सकते। आदमी आए दिन अपनी जाति वालों को मिल कर रहने का उपदेश देता रहता है, जानवर ऐसा उपदेश देते कभी न दिखेंगे। फिर क्या बात है कि जानवर आदमी से ज्यादा अच्छी तरह हिल-मिल कर रह लेते हैं?

आदमी जानवरों से ज्यादा अपने को ज्ञानी मानता है। ऐसा मानने में न वह शेखी मारता है, न गप हांकता है। जानवर और आदमियों के अलावा अगर कोई तीसरा और होता तो वह भी यही फैसला देता कि आदमी जानवरों से ज्यादा समझदार और ज्यादा ज्ञानी है। अगर आदमी को ज्ञानी और जानवरों को अज्ञानी कहा जाय तो भी कोई बढ़ाकर कही गई बात न समझी जायगी। फिर ये ज्ञानी आदमी अज्ञानी जानवरों से रहन-सहन के मामले में इतना पीछे क्यों?

ज्ञान ही एक ऐसी पहचान है जिससे हम आदमी को जानवर से जुदा करते हैं। बहुत गहरे जान पर यह ज्ञान ही हमें एक बला मालूम होती है, जो हमें मिल कर नहीं बैठने देती। दाल पका कर हम खाते हैं, हजम कर लेते हैं। पर उसी दाल को अधकच्चा खा लेने पर पेट में दर्द हो जाता है। कहीं ज्ञान का भी तो यही हाल नहीं है? पूरा पका ज्ञान तो हमें मिल-जुल कर रहने में मदद करता है और अधकचरा ज्ञान उसमें उलटा ही असर रखता है। ताकत जिस तरह दूसरों की जान बचा सकती है और दूसरों की जान ले भी सकती है, वैसे ही ज्ञान भी दूसरों की भलाई में लग सकता है और बुराई करने में भी जुट सकता है। अब ज्ञान को ठीक-ठीक समझ लेने से हमारी यह शंका दूर हो जायगी कि मिल-जुल कर रहने में आदमी जानवरों से क्यों पीछे हट गया है।

हर मुहल्ले के एक या दो घरों में या हर घर में कम-से-कम एक बालक ऐसा जरूर मिल जायगा जो कही हुई बात के ठीक उलटा करने में खुशी मानता हो। यानी अगर उससे कहा जाय कि तुम यहीं बैठे रहो तो

वह बाहर चल देगा। उससे कहा जाय कि तुम बाहर चले जाओ तो अन्दर ही और डट कर बैठ जायगा। ठीक ऐसी ही हालत आदमी-समाज के बहुत-से हिस्सों की है। उन आदमियों की तो अक्सर ऐसी आदत पाई ही जाती है, जिनको आए दिन धर्मोपदेश मिलता रहता है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। इसमें न साधुओं की कमी है, न गुरुओं का टोटा; न आचार्यों का खिसारा, न नेताओं का अकाल, न धर्म पोथियों का कहत; तिस पर भी आए दिन हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण, अब्राह्मण, समाजी-सनातनी तो लड़ते हुए मिलेंगे। समाजी, समाजी का गला काटते, सनातनी सनातनी की जान लेते, मुसलमान मुसलमान को कत्ल करते, ब्राह्मण ब्राह्मण को मारते, अब्राह्मण अब्राह्मण को खत्म करते भी पाये जा सकते हैं!

ऐसा क्यों होता है? इस का जवाब जब मन खोजने लगता है तो वह दौड़ा-दौडा पहुचता है महाभारत पर। महाभारत हिन्दुओं का पूज्य ग्रन्थ है। कौरवों को न सही पर पाण्डवों और यदुवन्शियों को तो हिन्दू बड़ी ऊची नजर से देखते हैं। यदुवन्शियो के नेता कृष्ण को तो सिर्फ पूजते ही नहीं, भगवान् मानते हैं। उसी महाभारत ग्रन्थ में पाण्डवों के हाथ जो-जो काम करवाये गए हैं वे तक ऐसे हैं जो जानवर कभी करने की सोच ही नही सकते। हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने के बाद हिन्दू-मुसलमानो ने जो-जो कर्म किये,बीजरूप में वे सब-के-सब महाभारत में से निकाले जा सकते हैं! मिसाल के तौर पर औरतों को नंगा करने की बात ले लीजिए। आज के हिन्दुस्तान में तो मुसलमानों ने हिन्दू औरतों को और हिन्दुओं ने मुसलमान औरतों को सबके सामने बाजार में नगा निकाला! हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को भाई नहीं कहते। किसी तरह एक-दूसरे को नहीं अपनाते। पर कौरव और पाण्डव तो भाई-भाई थे—खून के लिहाज से भी, लिखाई-पढ़ाई के लिहाज से भी, धर्म के लिहाज से भी, देश के लिहाज से भी और रोटी-बेटी के व्यवहार के लिहाज से भी! महाभारत में जब कौरवों के हाथों पाडवों की प्यारी

द्रौपदी को नंगा करने की बात पढ़ते हैं तो हमें आज के इन नंगे जुलूसों की बात सुन कर कोई अचरज नहीं होना चाहिए। सचमुच हुआ भी कब ! रंज भी नहीं होना चाहिए। और वह भी कब हुआ !

जिस हिन्दू ने मुसलमान औरतों के नंगा किये जाने की बात सुनी, उसने दुखी होने के स्थान में टिट्टी-टिट्टी करके दांत ही निकाल दिए। जरा समझदार हुए तो मुस्करा कर रह गए। यह ठीक है कि कुछ ने दुख भी माना, पर उनके बारे में भी यह कहना मुश्किल है कि उन्होंने वह दुख मन से माना या बाहर से। हो सकता है कि एक से ज्यादा भी मन से दुखी हुए हों, पर करोड़ों में उनकी तरफ़ किसकी नजर जाने लगी ! भुस के ढेर में गेहूं के दो दानों की क्या गिनती !

द्रौपदी जब नंगी की जा रही थी तो गुरु द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह जैसे आदमी चुपचाप बैठे थे। भीष्म दांत किटकिटा रहे थे, अर्जुन के बाजू फड़क रहे थे। पर इससे क्या, वह तो सताए हुए थे। यहां भी मुसलमान औरतों के नंगे किये जाने की बात सुन कर मुसलमान चीख उठते थे; हिन्दू औरतों के नंगे किये जाने की बात सुनकर हिन्दू हिन्दुस्तान को सिर पर उठा लेते थे। सताये हुओं के रोने से कोई पाठ थोड़े ही लिया जा सकता है ! इस किस्से को छोड़िए। महाभारत में जरा आगे चलिए। भीष्म अपने सगे न सही पर एक दादा की औलाद के हिसाब से भाई दुःशासन का खून पीते हैं। इस काम में तो आज के हिन्दू-मुसलमान दोनों ही पीछे रह गए हैं।

महाभारत के समय में तो यह हाल था उनका, जो जगद्गुरु—नहीं, नहीं जो साक्षात् भगवान् के अवतार श्रीकृष्ण के रिश्तेदार थे, तो उनका क्या हाल रहा होगा जो मामूली आदमी थे ! इसे खुशकिस्मती ही समझनी चाहिए कि उन दिनों के मामूली आदमियों का हमें इतिहास नहीं मिलता। इस हिसाब से भी आज की गुण्डई में भले आदमियों के हिस्सा न लेने से हम महाभारत काल से अच्छे ही जमाने में हैं। तब हमारी समझ में नहीं आता कि हम महाभारत से क्या सीख सकते हैं।

आइए, भागवद्गीता को लीजिए। भागवद्गीता उसी महाभारत का एक अध्याय है जिसका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं। भागवद्गीता दर्शन, साहित्य, छन्द-शास्त्र आदि के लिहाज से भले ही ऐसी किताब हो जो दुनिया के विद्वानों की नजर में बड़ी ऊंची हो; दुनिया के ज्ञानियों को बड़ा आनन्द देने वाली हो; पर महाभारत का अध्याय होने के कारण वह हमें यह उपदेश देने में असमर्थ है कि हम मिल-जुल कर कैसे रहें।

गीता के साथ सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि एक उसी को हाथ में लेकर सत्याग्रह करता है, दूसरा उसी को हाथ में लेकर अपने गुरुजनों पर प्रहार करता है। दोनों ही बातों के लिए सैकड़ों पण्डित मिल जाते हैं। फिर ऐसे ग्रंथ से कैसे आशा की जा सकती है कि वह हमें मेल-जोल से रहना सिखा देगा। महाभारत में तो यह गीता नाम का अध्याय तभी आता है जब श्रीकृष्ण मेल-मिलाप कराने में असमर्थ रहते हैं। गीता के उपदेश के बाद तो लड़ाई ही शुरू होती है। गीता से मेल-मिलाप का उद्देश्य खींच-तान कर ही निकाला जा सकता है।

अगर कोई यह कह बैठे कि गीता हाथ में लेकर एक आदमी ने हिन्दुस्तान में मेल-मिलाप करा दिया था तो हम उसके जवाब में यही कहेंगे कि यह गीता का असर नहीं था। यह उस आदमी के मन में बैठी सच्ची मेल-मिलाप की भावना का असर था। ननकाना में जिन सिक्खों ने तलवार बाध कर सत्याग्रह किया था, उनकी तलवारें नाम की तलवारें थी। इसी तरह मेल-मिलाप कराने वाले आदमी के हाथ की गीता नाम की गीता थी। रामायण में भी एक अबला के नाक काटने की बात और रावण के मारे जाने की बातें ऐसी हैं कि रामायण से मेल-मिलाप का सबक नहीं मिल सकता।

रामायण और महाभारत अपने समय में बड़ा सबक देने वाली रह चुकी हैं, पर आज के दिन तो वे पूजा की किताबें हैं। हमें सबक नहीं दे सकतीं।

राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध—सबकी निगाह बहुत थोड़ों को मेल-

मिलाप से रहने की बात सिखाने की थी। उसमें वे कामयाब हुए। पर अब तो आदमी सारी दुनिया में मेल-मिलाप की बात सोच रहा है। इस लिए हमारे आदर्श रामायण और महाभारत से नहीं मिल सकते। नए आदर्श की किताबें न मिलने पर हमें इन बातों से ही सन्तोष मानना होगा। और वे ये हो सकती हैं :

- सभाओं में बैठ कर हमें भेड़ बनने से बचना होगा। यानी हर कोई हमें भड़का कर अपना उल्लू सीधा न कर सकेगा।
- वक्त-जरूरत पर हमे कोई झूठ बोलने के लिए उकसा सकेगा, पर यह सुन कर हम कभी न उकसाए जा सकेंगे कि झूठ बोलना धर्म है। हम झूठ कभी बोल लेंगे पर उसके साथ यह समझते रहेंगे कि इस झूठ की सजा हमे जरूर मिलेगी। और हम उस सजा के लिए तैयार रहेंगे।
- हमें कोई मरने-मारने के लिए यह कह कर तैयार न कर सकेगा कि मरना-मारना धर्म है। हां, मरने-मारने की जरूरत बता कर वह हम से यह काम ले सकेगा। पर हम यही समझते रहेंगे कि मारना गुनाह है और उसकी हमे सजा मिलेगी और उस सजा के लिए हम तैयार हैं। धर्म तो जीना और जीने देना ही है।
- सबकी भलाई ही धर्म है। सबके भले में ही अपना भला है। इस जड़ की बात को पकड़े रह कर थोड़ी बुराई करने के लिए हमे कोई उकसा सकता है और हम बुराई के काम में लग सकते हैं। पर हम यह जरूर सोचते रहेंगे कि हम बुरा कर रहे हैं और उसकी सजा हमें मिलेगी। कुनैन बुखार दूर करती है तो मुंह को कड़वा तो करती ही है। तभी तो हम उसको बुखार में ही खाते हैं। खाने के वक्त हमारी थाली में वह नहीं परोसी जाती।
- सबका भला इन बातों के बगैर नही हो सकता :

(क) सब लोग दिन भर का कुछ-न-कुछ हिस्सा खाने और पहनने की चीजें पैदा करने में लगाएं। बाकी हिस्से में और कुछ काम करें।

(ख) सिक्का वही माना जाय, जिससे सीधे खाने या पहिनने की चीज तैयार हो सके। जैसे सूत की गुण्डी या घी-दूध की बोतलें।

(ग) नौकरी करना सब से नीच काम समझा जाय। सरकारी दफ्तर और बड़ी-बड़ी दुकानें आदमी रक्खें। वे आदमी ऐसे ही काम करें जैसे एक कुटुम्ब के आदमी घर का सारा काम करते हैं। वे न नौकर होते हैं, न नौकर समझे जाते है। यानी राज एक कुटुम्ब हो।

(घ) धर्मवार संगठन न रहें। संगठन रहें पेशेवार या कामवार। बड़े-बड़े संगठन भी बनाए जाएं पर वे हों मुहल्लेवार, गांववार, नगरवार, सूबेवार, देशवार और दुनियावार।

(च) जेलखाने न रहें, न मौत की सजा दी जाय। सारे कैदियों को उनके कुटुम्बियों को सौंप दिया जाय—इस शर्त पर कि उनकी नेकचलनी के वे जिम्मेदार होंगे। अगर कुटुम्बी जिम्मेदारी लेने से हाथ खींचे तो उस कैदी को उस संगठन के सुपुर्द कर दिया जाय जिस संगठन का उससे सम्बन्ध हो और वह उसकी जिम्मेदारी ले।

(छ) जो चीजें ऐसी हैं जिनके जरिये गाव-के-गांव और शहर-के-शहर बरबाद हो सकते हैं, उन चीजों के बनाने में कोई आदमी हिस्सा न ले। इस बात की जिम्मेवारी हर संगठन के सुपुर्द की जाय और उसी से जवाब-तलब किया जाय कि क्यों उसके सगठन का आदमी ऐसी चीजें बनाने के काम में लगा।

इसी तरह और भी बहुत सी बातें बढ़ाई जा सकती हैं, पर उनको इस लेख में देने की जरूरत नहीं। हम तो इन पंक्तियों के जरिये सिर्फ इशारा करना चाहते है कि सबकी भलाई के लिए आज की सभ्यता और आज की आदर्श की किताबों के रहते कुछ नहीं सोचा जा सकता, कुछ नहीं किया जा सकता।

खुद भला बने बिना सबकी भलाई की बात नहीं सोची जा सकती। सबकी भलाई का काम तो किया ही कैसे जा सकता है। जो नौकरी करता है वह भला नहीं हो सकता। फिर चाहे वह भलाई करने के काम की ही

हो जाने में दुख है, पर बढ़ कर जेल जाने में सुख है। वैसे ही हम पुराने रहन-सहन में दुखी थे, उसका जन्म हुआ था हमारी मूर्खता से। उसी रहन-सहन को अपना कर आज हम सुखी होंगे क्योंकि उसको जन्म दे रही है हमारी बुद्धिमानी, हमारी समझदारी और हमारा आजतक का ज्ञान।

सबकी भलाई सबके मिलकर रहे बिना नहीं हो सकती। आज की सभ्यता ढाए बिना सबका मिलकर रहना नहीं हो सकता।

हिम्मत हो तो लगिये सबकी भलाई में।

का शब्द 'अधिकार' अपने पीछे एक कथा लिए हुए है। यही हाल कर्त्तव्य का है। अधिकार और कर्त्तव्य के लिए अंग्रेजी के शब्द हैं Right और Duty। पर ये Right और Duty कब वह माने रखते हैं जिन मानो को लेकर आज अमेरीका और यूरप वाले लड रहेहैं! जिनकी देखा-देखी हम भारतीय भी वैसा ही कर रहे हैं।

अधिकार पाने की लड़ाई कैसी? और अधिकार हासिल करने से रोकेगा कौन? अधिकार हमारी कमाई का फल होता है। यह कर्त्तव्य कमाई का फल है। अधिकार और हमारे बीच में, कोई आ ही कैसे सकता है? क्या पेड़ और फल के बीच में कोई आसका है? क्या दीपक जलने और प्रकाश होने के बीच मे कभी कुछ देर लगी है? इसी तरह कर्त्तव्य-पालन करते-करते हम किसी न किसी अंश में अधिकार पाते ही रहते हैं। और किसी न किसी चीज के अधिकारी बनते ही रहते हैं।

इसको साफ-साफ समझने के लिए आइये उन दिनों के भारत चलें जिन दिनों सिकदर का हमला उसकी उत्तर-पश्चिमी सरहद पर हो रह था। सिकन्दर के मुकाबले में था राजा पुरु। हम यहां इस वक्त सिकन्दर और पुरु के कर्त्तव्य और अधिकारो की चर्चा नहीं करेंगे। हम चर्चा करेंगे उस वक्त के दो मामूली आदमियों की जो खेती का काम करते थे। ये दोनों पुरु के दरबार मे उस वक्त पहुंचते हैं जब सिकन्दर भी पुरु के पास बैठा हुआ होता है। इन दोनों की एक दूसरे के खिलाफ यह शिकायत थी कि यह मेरी जमीन में निकले हुऐ खजाने को लेने से इन्कार करता है। दूसरा अपने इन्कार की वजह यह बताता था कि जिस जमीन में यह खजाना निकला है, उस जमीन को मै इसके हाथों बेच चुका। जब वह जमीन मेरी नहीं रही तो उसमे से निकला हुआ खजाना मेरा कैसे हो सकता है।

देखा आपने! कर्त्तव्य और अधिकार भारतीय जीवन में मिलकर कितने एकमेक हो गये हैं! इनकी एकमेकता आज भी कभी-कभी जब आंखों के सामने आ जाती है तो देखने वाले गद्गद हो उठते हैं।

हो जाय और न मालूम फिर किन-किन झंझटों का सामना करना पड़े। हो सकता है जान भी जोखम में पड़ जाय।

यहां हमें बंकिम बाबू की दलील याद आतीहै। वे अपने 'चौबे का चिट्ठा' में एक जगह अदालत में 'चौबेजी' के मुंह से बड़े मजे की बात कहलवाते हैं। उस बात से अधिकार और कर्त्तव्य, दोपहर के चमकते हुए सूरज की रोशनी में आते हैं। चौबेजी के मुंह से निकलता है 'जीत के बल पर अगर किसी देश पर किसी राजा का अधिकार ठीक माना जा सकता है, तो चोरी के नाते चोरी की हुई चीज पर चोर का अधिकार क्यों ठीक नहीं ?'

ईमानदारी से कर्त्तव्य पालन करते हुए, मेहनत से कमाई हुई चीज का ही अधिकार सच्चा अधिकार होता है। उस अधिकार को कोई देता नहीं। वह हमारे कर्तव्य को प्रकृति की देन होती है। उसी का दूसरा नाम अर्जन करना है। 'ईमानदारी से कर्तव्य पालन करते हुए' शब्द निकाल दिये जायं तो अधिकार न सच्चा अधिकार हो जाता है। क्योंकि मेहनत तो चुरा कर चीज लाने में भी कभी-कभी इतनी ज्यादा हो जाती हैं, जितनी उसके कमाने में भी न होती !

चोर तो रातों जागता है और हर रात उसे माल नहीं मिल जाता। जब भी कुछ उसको मिलता है वह कई रातों के जागने का फल होता है। उसे उस काम में कभी-कभी अपनी जान जोखम में डालनी पड़ती है। पकड़े जाने पर कानून न उसकी मेहनत का ख्याल करता है, न जान जोखिम में डालने की और ध्यान देता है। मेहनत से चुराई चीज उससे छीन लेता है, जिसकी होती है उसको दे देता है।

कानून इतना ही नहीं करता,चोर को सजा देता है। उससे ऐसी मेहनत कराता है जिसे करने को उसका जी नहीं चाहता। यह वह इसलिए कराता है कि चोर कर्त्तव्य को समझने लगे, ईमानदारी को जान जाय और इस तरह सच्चे और ना-सच्चे अधिकार में अन्तर सीख जाय।

मौजूद है और हर देश में मौजूद है। आज ईमानदार और सब तरह के योग्य आदमी को दफ्तर में इतनी जल्दी जगह नहीं मिलती जितनी एक बी० ए० या एम० ए० को। इसकी वजह सिर्फ यही हैं कि आमतौर से कालेज से निकले हुए स्नातक ईमानदारी से कर्त्तव्य पालन करने वाले निकलते हैं। यह दूसरी बात है कि आज यह बात भारत में ही नहीं, सभी जगह ढीली पड़ गई है।

कर्त्तव्य-पालन की कला आये बिना या कर्त्तव्य-पालन का अभ्यास हुए बिना. न अधिकार कोई कराता है, न अधिकार कोई देता है, न अधिकार कोई मिलता है, और न अधिकार कोई कमाया जा सकता है।

भारत के सारे पुराण कर्त्तव्य और अधिकार की एकमेकता से पैदा हुये फलों का कथन मात्र हैं। हो सकता है कहीं-कहीं उन पुराणों में ऐसी चीज आगई हो जो इस कसौटी पर न कसी जा सके। अगर हम सलाह देने के अधिकारी हैं तो हमारी सलाह है कि आप पुराण के उस भाग से कोई सीख न लें जो इस कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। आजकल सब जगह धींगा-मुश्ती से पाये अधिकार का बाजार गर्म है। अकर्त्तव्य ही कर्त्तव्य का जामा पहने, बहुत सस्ते दामों बाजार में मिलता है। हमे उसकी खरीदारी से बचना चाहिए। थोड़ी-सी तकलीफ उठाकर कर्त्तव्य और अधिकार के उसी रास्ते को आपनाना चाहिए जिसे भारत के लोग अपनाये हुये थे। आज भी कुछ-कुछ अपनाये हुये हैं। जिनकी वजह से ही भारत उठा है, आजाद हुआ है, चमका है और चमकता हुआ रखा जा सकता है।

गेहूं के बीज को आप अपना कर्त्तव्य समझिये। गेहूं के डंठल को आप अधिकार मानिये। गेहूओं से लदी गेहूं की बाल को आप आत्मानन्द मानिये। अब सोचिये कि गेहूं बोकर कोई किसान भूसा मिल जाने की चर्चा करे और गेहुंओं को बिल्कुल भूला बैठे तो वह आपकी नजरों में हंसी की चीज होगा या नहीं? ठीक इसी तरह अगर आप कर्त्तव्य पालन करने के बाद आत्मानन्द की बात छोड़कर अधिकार-अधिकार के ही गीत गायें तो समझदार आप पर हसेंगे या नहीं? दोस्तों, इसलिये मेरी तो यह

सलाह है कि आप कर्त्तव्य किये जाइय और आत्मानन्द की गंगा मे डुबकिया लगाइये। अधिकार आप के पाव छूता हुआ नजर आयगा।

सचाई-सिक्के के कर्त्तव्य और अधिकार दो पहलू हैं। जिसके हाथ में सचाई का सिक्का है, उसी को आत्मानन्द प्राप्त है।

: द्वितीय खण्ड :

अपनी कुरेद !
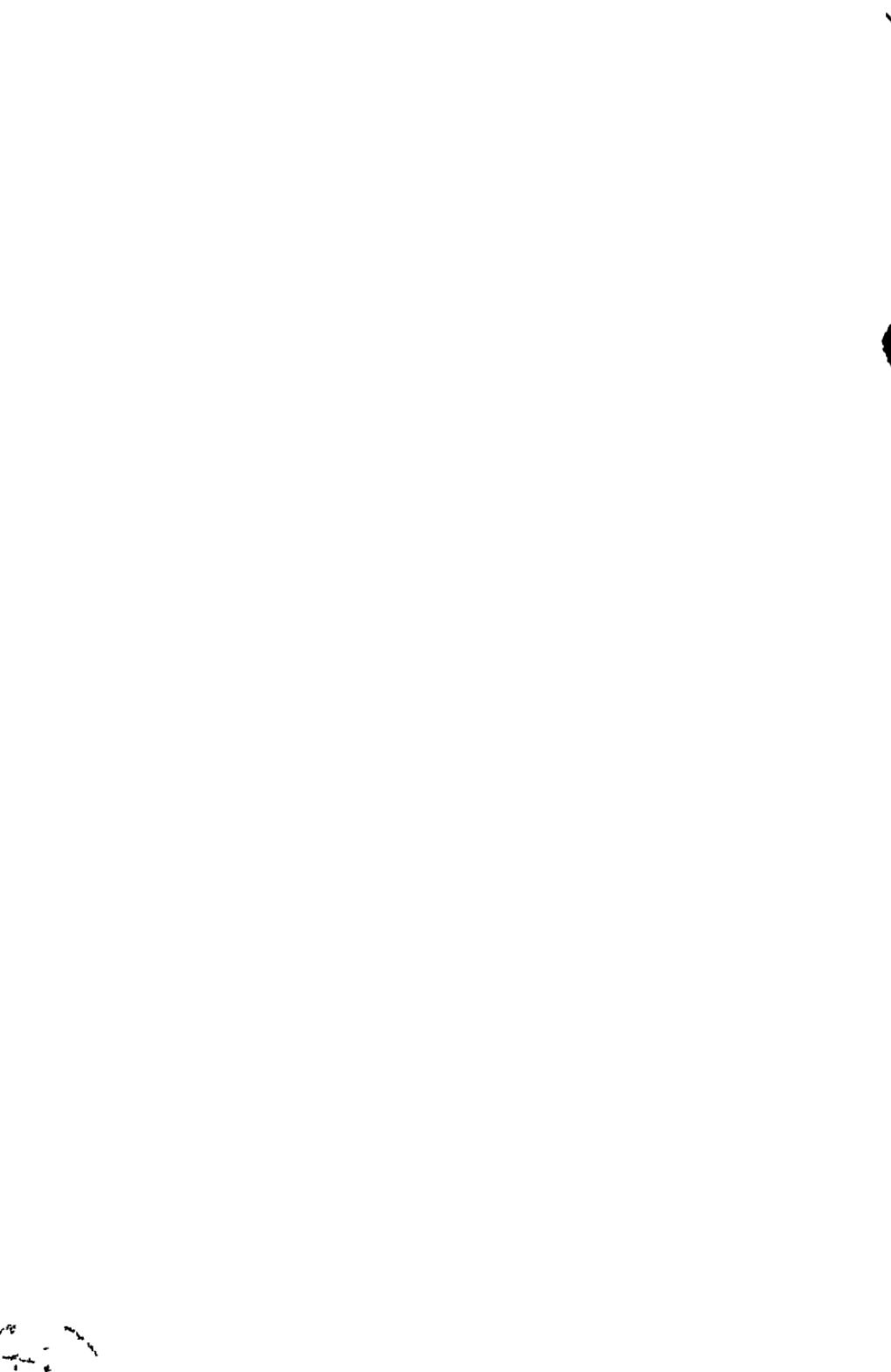
: एक :

मैं हूं क्या ?

मै सुखी रहना चाहता हू। मै कामयाब होना चाहता हूं। और भी यही चाहते हैं। जिसमे औरों का सुख है, उसमें शायद मेरा न हो। जिसमें औरो की कामयाबी है, उसमें मेरी नाकामयाबी भी रह सकती है। पर इससे क्या ? और हों या मैं, चाहते यही हैं कि हमारा जीवन खूब अच्छा हो और अपने जीते-जी ज्यादा-से-ज्यादा सुख भोग सके।

मै चाहता हू—"मैं यह बन जाऊ। वह बन जाऊं।" जो और बन गये हैं वह मै क्यो नहीं बन सकता ? जिन्दगी अन्धे के हाथ लगी बटेर नहीं है, सूझते की पकड़ी बटेर है। पुरुष, पुरुषार्थ से पानी मे गोता लगा कर सूखा निकल सकता है। आग से बिना झुलसे बाहर आ सकता है। धर्म का भी यही निचोड़ है।

जाड़े की ऋतु मेरे रोके न रुकेगी, गर्मी-बरसात भी मेरे बस की चीज़ नहीं। न सही। धर्म तो सिखाता है, आत्मा तो कहती है कि परिस्थितियों का रोना मत रोओ। मै भी कहता हू कि मै परिस्थितियों की शिकायत नहीं करता। जो परिस्थितियों का रोना रोता है, वह मेरी समझ मे, मूर्ख है। ज्ञान से यह परिस्थितिया बदली जा सकती हैं। कम-से-कम इनका असर

तो दूर किया हो जा सकता है। सभी तो वैसा कर रहे हैं। मैं भी कर सकता हूं।

अचानक मकान पर बिजली गिर सकती है। प्लेग भी धावा बोल सकता है। क्या इन आकस्मिक घटनाओं से मैं अपने पांव फुला दूं? थर-थर कापने लगूं? यानि जितना हूं उतना भी न रहूं! नहीं-नही, मै यह नहीं कर सकता। मै तो अंघोटे बाधे हुए घोड़े (Horse in blinkers) की तरह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही रहूंगा। इधर-उधर कुछ भी होता रहे, मुझे उससे कोई मतलब नहीं। मेरी निगाह उधर जाती ही नहीं।

मेरा लक्ष्य क्या है? यह चाहे मै अभी न समझ पाया होऊं, पर इससे क्या। मेरा अन्तरात्मा उसे जरूर जानता है। वही तो मुझे दौड़ा रहा है। वह लक्ष्य क्या है? मैं उसका पता लगा लूंगा और जरूर लगा लूंगा।

बालकपन में मा पूछा करती थी, "बेटे, क्या बनोगे?" मैं कुछ जवाब दिया करता था। पिताजी को वह पसन्द न था। वे मुझे उसका जवाब अपनी इच्छा के अनुसार कुछ सीखा देते। मै तोते की तरह उसी को मा के सामने चट-चट बोल दिया करता था। जरा बड़ा हुआ और गुरुजी ने यही सवाल शुरू किया। तब साथियों का रटाया जवाब पुराने जवाब की जगह ले बैठा। इन सब जवाबो के पीछे भी एक जवाब था और है। जिसे मेरा अन्तरात्मा जानता है और समय देखकर वह मुझे बतायगा भी। अन्तरात्मा से बात करने का तरीका है—बढ़ चलना।

निकम्मेपन के धुन्ध कोहरे को जरा श्रम के सूरज से भागने तो दो, मैं अपने लक्ष्य को अपने आप ही देखने लग जाऊंगा, उसे अपना लूंगा, उसके पीछे पड जाऊंगा। उसको पूरा करके छोडूंगा। मैं जानता हूं कि आदमी जो चाहता है वही हो जाया करता है।

मेरा लक्ष्य कुछ भी रहे। एक बात तय है, मेरे लक्ष्य में दूसरों को सताने की बात न रहेगी। अन्तरात्मा के लक्ष्यों में यह बात हुआ ही नहीं

करती। दूसरों के गिराने की बात तो फिर उसमें रह ही कैसे सकती है ? दूसरों को धकेल कर आगे बढ़ने की बात के रहने की जरूरत ही नहीं। मेरा लक्ष्य किसी से टकरायगा नहीं। हम सब एक ही ओर तो जा रहे हैं। टक्कर की बात कैसी। बाह्य लक्ष्य टकरा सकते हैं, अन्तर अक्ष्य नहीं।

मै यह समझता हूं—और ठीक समझता हू—कि राम आदमी थे, कृष्ण देवकी के पेट से जन्मे थे, महावीर त्रिशला की कोख में रहे थे, बुद्ध शुद्धोदन के बेटे थे, मुहम्मद आमिना की आख के तोते थे। मुझे यह विश्वास है और पक्का विश्वास है कि आत्मा में बड़ी-बड़ी ताक़तें मौजूद हैं। पर मैं अपना लक्ष्य ऐसा नहीं बनाऊंगा कि मुझे ही हवाई महल जचे। मैं एक-एक जीना चढ़ूंगा और मालूम करूंगा कि दो-दो और चार-चार भी चढ़ सकता हू तो वैसा भी करूंगा।

मेरा आदर्श और लक्ष्य कुछ भी रहे, मेरा कार्य-क्रम साल-साल का रहेगा। तीन-तीन साल का भी हो सकता है, पर पाच साल से ज्यादा का कभी नहीं। मेरी जिन्दगी का अन्तिम लक्ष्य भी होगा। पर वह तो मै ही जानूंगा। औरों के जानने की वह चीज नहीं। मेरी दौड़ मे कोई जान ले तो जान ले। मुझे कोई घबराहट न होगी। मेरे लक्ष्य मे जब औरों के सताने की बात ही न रहेगी तो औरों के जान लेने से मेरी हानि भी क्या हो सकती है। मे तो उसे बीज की तरह छिपाये रखने मे अपनी और अपने लक्ष्य की भलाई समझता हू। औरों के जान लेने पर भी मेरा लक्ष्य औरो के लिए छिपा हुआ ही रहेगा। जब मेरे पास कार्य-क्रम है तब मेरा कदम रुकेगा क्यों ?

मैं भाग्य मे विश्वास नही रखता। मै पुरुषार्थ को ही भाग्य मानता हू। अभागा कोई पैदा नहीं होता, अभागा बन जाता है। मै अभागा समझूंगा, अभागा बन जाऊंगा; पर मैं वैसा समझूंगा ही क्यों ? सब सच्चे भाग्यवान पैदा होते हैं। तभी तो मा-बाप के मर जाने पर भी उन्हे पालने वाले मिल जाते हैं। बच्चे सबके सब मनोहर होते हैं। तभी तो बहुतों का

मन हर लेते हैं। वे मनोहर बने रहें तो अभागे कभी न हों। मैं मनोहर बना रहूंगा और हमेशा भाग्यवान बना रहूंगा। गुन, मन को हरते हैं। रूप उन गुणों में से एक है। रूप ही अकेला गुण नहीं जो मन को हरता हो। रूप आगे बढ़ कर जल्दबाजी करने में सिद्ध-हस्त है, लेकिन मुंह की खाता है और पीछे हटता है। भरोसे का यह गुण नहीं और अपने वश का भी नहीं। गुणियों का रूप कैसा भी क्यों न हो, मनोहर लगने लगता है। जामुन छांट-छाट कर काली ही खाई जाती है। जामुनों से कहीं ज्यादा काली और चिकनी खालवाले साप लाठी से मार-मार खत्म कर दिये जाते हैं। काला कुरूप ब्राह्मण चाणक्य, चन्द्रगुप्त को कितना प्यारा था !

मुझे अपना बचपन याद है, जब दौड़-दौड़ कर सबका काम करता था। सब मुझको प्यार करते थे। मै भाग्यवान था। जब जरा बड़ा होकर लोगों की फुलवाड़ी का नाश करने लगा, तब सब मेरी ताक में रहने लगे, मौका पाकर कमची लिये मेरे पीछे दौड़ने लगे। तब मै अभागा था। मैं आप ही भाग्यवान था और आप ही अभागा था।

यह बातें मुझे कभी नहीं भूलतीं

०

* बिना दुःख में पड़े सुख नहीं मिलता और बिना गंवाये कुछ कमाया नहीं जाता। हा, यह ठीक है कि जान की जोखम और सर्वस्व को दाव पर लगाकर जिन्दगी में एक ही बार काम हो सकता है। कई बार भी सम्भव है, पर एक बार की ही बात सोच कर काम में पड़ना चाहिये।
* अवसर नहीं चूकना चाहिये। फुर्ती से काम लेना चाहिये, जल्द-बाजी से नहीं। फुर्ती और जल्दबाजी दो अलग-अलग चीजें हैं।
* अकेले कुछ नहीं होता। एक को तो साथ ले ही लेना चाहिये।
* अकेले खाना भी नहीं चाहिये, बांट कर ही खाना चाहिये। हर

चीज बंटनी चाहिये—सुख और सफलता ।

* वास्तववादी बन कर रहना चाहिये, कल्पनावादी नहीं । आदर्श-वादी, पर सम्भव आदर्शवादी ।
* अपने को धोखा नहीं दिया जा सकता, फिर औरों को भी क्यों ?
* हजार काम करो, पर ढंग रक्खो एक । बहुत से कामों से उदारता आती है, पर ढंग चाल को तेज करता है अगर वह एक ही हो ।
* सुख कार्य करने मे है, सफलता-प्राप्ति में नहीं । सफलता का सुख क्षणिक होती है, काम का टिकाऊ ।

मै आनन्द का भेद पा गया हू । मै उसे ढूंढ लूंगा । ढूंढने पर ढ लूंगा और कभी हाथ से न जाने दूंगा ।

सुख और आनन्द का अन्तर मैने समझ लिया है । मैं औरों को भी ाऊगा । मीठे-मीठे दर्द का नाम सुख है । सुख को मै भोगना चाहता । भोगने के बाद मिठास खत्म हो जाता है, दर्द बच रहता है । इद्रियों सुख सुख है । आनन्द है चीज और । चीज और ही है इतना कह : न रहूगा । मै गूंगा नहीं हू जो गुड का स्वाद न बता सकूं । भाषा ूरी ही सही, आधी बात कह सकूंगा । आत्मा की झाकी का नाम ानन्द है । घबराओ नहीं मै छायावादी कवि नहीं हू और न रहस्यवादी त । मै आदमी की बोली बोलकर आनन्द को बताऊंगा । मुझे वह कभी ी मिला है । वह कर्त्तव्य पालने मे है, वह त्याग में है, वह काम में ो रहने मे है, औरा के लिए भले काम करने मे है । अनासक्ति योग है ार उस योग का अन्त ही आनन्द है ।

मैं अपना जीना (सीढ़ी) आप तैय्यार करूंगा । विजय-देवी तक स्वयं चूंगा । फिर आनन्द ही आनन्द है ।

❁

: दो :

मैं हो क्या गया ?

एक दो नहीं, दसियों मुझसे यह कहते हैं कि मैं बहुत से काम बेसमझे-बूझे करता हूं। मैं उनकी नहीं सुनता। मैं उनकी मानता भी नहीं। मेरी याद में मैंने कभी कोई काम बेसमझे-बूझे नहीं किया। दमड़ी की हंडिया भी ली तो ठोक-बजा कर। फिर वे मुझे ऐसा क्यों कहते हैं? जरा सोचता हूं तो ऐसा मालूम होता है कि वे ठीक कहते हैं। उन्होंने मुझे सोचते-समझते कब देखा? सोचने-समझने का काम ही ऐसा है कि वह दिखाकर नहीं किया जा सकता। मैं औरों के कहने की परवाह न भी करूं, पर मेरी आखों के सामने एक ऐसी चीज है जो मुझे उनकी बात पर ध्यान देने के लिए मजबूर करती है। वह है मेरी तरक्की और उनकी तरक्की। इन दोनो में बड़ा अन्तर है। वे मुझसे कहीं आगे बढे हुए हैं। दोनों तरक्कियों की तस्वीर जब मेरी आखो के सामने आ खड़ी होती है, तब मुझे औरों की झूठी और बेतुकी जंचने वाली बात भी सच्ची सी जंचने लगती है।

जमीन की दो चालें हैं, मैंने छुटपन में ही यह पढ़ा था। एक अपनी कीली पर, दूसरी सूरज के चारों ओर। गेंद की ये दोनों चालें

आखों से भी देखता हू। पर अपनी एक ही चाल पर ध्यान जाता है! मैं दूसरी चाल भी चल रहा हू, पर वह अपने आप नहीं, उसके लिए तो मानो मुझे कोई धकेल रहा है। उस चलने में मेरा अपना हाथ है ही नहीं। मैं दिल्ली से कलकत्ते जाने के लिए ज्योतिषि से शुभ दिन पूछता हू; खाने-पीने, पहनने-उठने, ओढ़ने-बिछाने की तैयारी करता हू, टाइमटेबिल माग कर ठीक गाड़ी का पता चलाता हू और न जाने क्या-क्या करता हूं; जिन्दगी के लम्बे सफर की मेरी तैयारी क्या है, इसकी याद तक नहीं आती!

अब याद आ गई है, पिछली समझलूं और तैयार होकर आगे बढ़ूं। शुरू में चाल चाहे और भी कम हो जाये और वह होगी ही, पर आगे का चला हुआ रास्ता मेरा चला हुआ तो होगा। धकियाये जाने से दूर जाकर अपने चलने से दो कदम रहना ही कहीं ज्यादा अच्छा है।

अब मैं हू कहा और आगे मुझे जाना कहा है? यह तय करना है। यह तय तभी होगा जब मैं यह समझलूं कि मै कहा-कहा घूमकर आ रहा हूं? गलत रास्ते पर भटकते हुए आदमी को सीधी सड़क पर आने के लिए उसी भटके हुए रास्ते पर ही तो लौटना पड़ता है, इसलिए उस रास्ते का जानना जरूरी है। जिन्दगी की जिस मंजिल तक मैं पहुच चुका हूं इसमें मेरा हाथ बहुत कम है। किस-किसने धकेल कर मुझे यहा तक पहुंचाया है, यह जानना जरूरी है। उसमें मेरी मर्जी कितनी है और कितनी मेरी दौड़-धूप है, यह जानना भी जरूरी है।

मैं जिस मुल्क के जिस गाव में पैदा हुआ हूं, वहा मैं अपनी मर्जी से पैदा नहीं हुआ। अपने मा-बाप चुनने में मेरा कोई हाथ नहीं, रंग-रूप, देह की गठन, धार्मिक विचार, पढ़ाई-लिखाई, किसी में मेरी सलाह नहीं ली गई। रहन-सहन, खाने-पीने, उठने-बैठने के तरीके सब मुझे वही काम में लाने पड़ते हैं जो मेरे मॉ-बाप काममें लाते थे। मैंने उनमें से किसी एक को भी नहीं बनाया। जो रंगरूप मुझे मिल गया है उसे मै बदल भी नहीं सकता। सफाई से उसे चमका भर सकता हूं। सुनता हूं

आज-कल ठिगने आदमी लम्बे हो जाते हैं। मैं भी कोशिश करूं तो वैसा हो सकता हूं, पर उसकी एक हद है, उससे आगे जा नहीं सकता। हृदय और मस्तक भी मिले हैं—मिले तो हैं, मैंने यह पहचान भी लिया है, पर सब से जरूरी तो यह जानना है कि इन दोनों से काम क्या लिया जाय, किसलिये लिया जाय ? सौ रुपये और एक टूटा-फूटा मकान विरसे में पाने वाले लाखों की आसामी बन जाते देखे गये हैं; अपढ़ पण्डित बनते देखे गये हैं; कायर बहादुरी के तमगे लटकाये फिरते हैं; बेसुरे मशहूर गायक बन गये हैं। इससे यह पता चलता हैं कि मुझे बहुत कुछ विरसे मे मिला है। मगेनू होने पर भी अपना जो कुछ थोड़ा है, वह इतना जबर्दस्त है कि बाजीगर की तरह मुट्ठी भर राख से रुपयों की ढेरी लगा सकता है। वही थोड़ा तो मैं हूं, बाकी जो कुछ है वह तो हो गया हूं ! मुझे पहचानना उसी थोड़े को है और उसी को पहचान कर रहूंगा।

उस थोड़े को जानने के लिये मै यह करूं कि पहले यह रोना-धोना छोड़ दूं कि मुझे विरसे में कुछ नहीं मिला या मिला तो कर्ज ही मिला। इस रोने से कुछ हाथ न आयगा। मुझे तो उस थोड़े को जानना ही चाहिये, जो मुझमें है। उस थोड़े को अपना कर कुछ जिम्मेदारी लेनी ही होगी और सचाई के साथ। वह कितना ही छोटा क्यों न हो, मेरा अपना राज्य है। आज से विरसे में पाये इस छोटे-से राज को अपना और बिल्कुल अपना समझ कर ही रहूंगा। उसका पावना मुझे पाना है, उसका देना मुझे देना है।

मुझे अगर यह कह दिया जाय कि मुझे आज खाना नहीं मिलेगा, तो मुझे बार-बार भूख सताती है, तकलीफ भी बड़ी होती है, खाने की चीजें चुराने को जी करता है; मन और मस्तक में एक संग्राम सा खड़ा हो जाता है। और अगर मैं यह कह दूं कि मै आज खाना नहीं खाऊंगा तो न इतनी भूख लगती है, न कोई तकलीफ होती है, न चुराने को जी चाहता है। ये दोनों घटनायें साफ तो कह रही हैं कि मेरे ऊपर परिस्थितियों का असर पड़ता है। और नहीं भी पड़ता, अगर मैं अपने आप को परिस्थ-

तियों की प्रतिकूल अवस्था में ले जाऊं, यानी परिस्थितियों से अपनी मर्जी के मुताबिक फायदा उठा सकूं ।

मन को अन्तरात्म की इच्छा के अनुकूल चलाना कला है । यह कला मुझे आती नहीं है. बचपन मे बिल्कुल नहीं सीखी, किसी ने सिखाई ही नहीं । स्कल. और वह भी आजकल के स्कूल मे तो इसमे सरोकार ही क्या ! पर
। की पात्रता विरसे में मुझे जरूर मिली है, और यह क्या कम देन
बदला जा सकता है और उसे मैं खुद ही बदल सकता हू । 'बदल
देल इस दिल के बदले, खुदा या तू तो रब्बुलआलमी है' कवि जिस
प्रपना दिल बदलवाना चाहता हैं, वह खुदा मेरे लिये मेरा अन्तरात्म
तब यह बात है तो जल्दी और देर से मन को आत्मा के अनुकूल
की कला मैं सीखा ही लूंगा । अभ्यास से क्या नहीं आ जाता ।
कभी-कभी शोर मचा कर या तूफान उठा कर अपनी मर्जी के
काम कराने मे सफल हो जाता हूं । सफलता हासिल करने की
मुझे कहा से हाथ लग गई. यह जानने के लिये अपनी नजर
की ओर फेकता हू तो मेरा ध्यान मनोविज्ञान के उस नियम
अटकता है जो कहता है कि जिन बच्चों को रोना-चिल्लाना शुरू
फौरन ही दूध मिल जाता है, वे अक्सर रो-चिल्ला कर ही
काम निकाला करते हैं । अगर मैं अपनी बात पर अड़ कर अपना
चलता हूं तो जरूर मेरी मा ने घटों ही रुला कर मुझे दूध दिया
और आज अगर मैं मुस्तैदी से सब कुछ बर्दाश्त करते हुए अपनी
डटा रहता हू तो सचमुच मेरी मा बडी पक्की रही होगी । मैं
ो चिल्लाता होऊंगा, पर दूध तो वह मुझे तभी पिलाती होगी जब
ना ठीक समझती होगी । मै अपनी मा के दूध से कुछ भी बना
मेरे लिये काम की है पिछली तीसरी बात । प्रकृति माता सफ-
दूध ठीक वक्त पर पिलायेगी ; रोऊं भी क्यों ? खेल मे ही क्यों
रहूं ? उदास. सुस्त. निराशावादी वही होते हैं जिनकी माओं ने
लगने पर भी दूध नहीं पिलाया । मगर इस बात को समझने

पर उदासी, सुस्ती और निराशावादिता भगाई जा सकती है।

मैंने मा के दूध में जो कुछ पिया वह मेरे साथ रहा। वही मेरे मन में बीज बन गया। वही बीज बचपन के खिलाड़ियों से पानी लेकर अंकुर में बदल गया। पाठशाला की हवा खाकर उसमें पत्ते निकल आये। कालिज या काम की धूप खाकर वह पौधा बन गया। अगर यों ही बढ़ने दिया गया तो इसमें फूल आयेंगे और फल लगेंगे और बीज के अनुरुप ही लगेंगे और तुम्हें वह खाने होंगे! अगर यह फल बुरे हैं तो इनसे बचा कैसे जाय? वह थोड़ा जो मेरा मुझ में है उसके बल पर इस पौधे को उखाड़कर फेंका जा सकता है, और उसके फल-भोग से बचा जा सकता है।

बचपन में मैं अपनी ओर न देख कर औरों की ओर ही देखा करता था, यानी हर काम में मैं औरों की मदद चाहता था। घर में, बाहर, जहां कहीं भी जिसकी ज्यादा धाक होती थी, वहीं मेरे जी चढ़ जाता था। और उसी जैसा ही बनने की मुझमें तीव्र उत्कण्ठा पैदा हो जाती थी। मा की अगर ज्यादा चलती थी तो मा के कामों की नकल करता था। उसके स्वभाव को अपना स्वभाव बनाने की कोशिश करता था। और अगर बाप की चलती थी तो उनके स्कूल में जाकर मास्टर बनने को इच्छा, खेल में बढ़िया खिलाड़ी, जानवरों मे शेर, अफसरों में राजा बनना चाहता था—यह सब कुछ अपने आप होता था। मझे ऐसा नहीं मालूम होता था कि मैं यह सोच समझ कर रहा हू। आज मै अगर यह याद करने लगूं कि सब से पहले मैंने क्या बनना चाहा था तो कितना ही जोर लगाने पर याद न कर सकूं। अगर किसी तरह याद आ ही जाय तो उस आकाक्षा पर हंसी आये बिना बिना न रहे। मेरी यह आकाक्षा जड़ता के घोड़े पर सवार थी और आवारा फिरने में ही उसे आनन्द आता था। उस घोड़े की लगाम मेरी अन्तरात्मा के हाथ में कब थी? उस कची उम्र और कच्ची समझ में अच्छा ही होता है कि आकांक्षायें स्वच्छन्द रहती हैं। कहीं अन्तरात्म (जो उस समय निर्मल नहीं होता) के आधीन होतीं तो नहीं मालूम कि मैं यह लिखने को जीवित भी होता या नहीं।

हां, अब मुझे मालूम हुआ कि मैं किस-किस धातु का बना हूं ? मा का असर ही नहीं जो मुझ में काम कर रहा है; बाप का, भाई का, साथियों का, अध्यापकों का, और जिन-जिनसे वास्ता पड़ा उन सब का असर भी है। मतलब यह कि मैं एक ही काम को कई तरह कर सकता हूं—यानी परिस्थितिया ज्यों की त्यों रहते हुए मै उसका मुकाबला कई तरह कर सकता हू। जब यह बात है तो क्यो न मै उसी रीति को पूरी तरह से अपनालू जो मेरे लिये ठीक है। और जिसको अपना कर मैं औरों की नजरों में ही नहीं, अपनी नजर मे भी आगे बढ़ता हुआ दिखाई दू। जब में आफतों का रोकर, डर कर, घबरा कर मुकाबला करता हूँ, तब क्यों न मै इस दूसरी बात को अपना कर—रोने, डरने, घबराने से छुटी पा लूं ?

जीने की शैली बदल डालने मे ही मेरा भला है। शैली बदलने का नुसखा मेरे हाथ में आ गया है। पर नुसखे की दवाइया अभी मेरे हाथ नहीं लग पाई हैं। वे दवाइया कहीं बाहर तो मिलती नहीं, उनमें बहुत-सी तो मन के हाथ में हैं, एक-दो अन्तर-आत्मा के। मन को समझा-फुसला कर वह दवाइया मैं उससे ले लूंगा और फिर मै जो कुछ करूंगा वह मेरा किया हुआ होगा, किसी का कराया हुआ न होगा। उस काम को किसी ने मेरे सिर पर लादा भी न होगा। रही यह बात कि जो मैं होगया या बन गया हू, उसका क्या होगा ? वह बदला तो नहीं जा सकता। उसका इलाज मैने सोच लिया है। उसको मै यह समझ लूंगा कि वैसा मै अपने आप बना हू। औरों के बनेपन का डंक उसमें से निकल जाने से वह मुझे सता न सकेगा।

आदत तभी तक आदत है जब तक वह मुझ पर सवार रहती है। ऐब तभी तक ऐब हैं जब तक वे मुझे घसीटे फिरते हैं। आदत आदत नहीं जब वह मेरे काबू में है और न ऐब ऐब है जब उनसे किसी का भला किया जा रहा हो।

: तीन :

मैं बनूं क्या ?

१

मै हूं क्या ? यह मै समझ गया। मै हो क्या गया ? यह मैंने जान लिया। क्यों न अब मैं वह बनूं जिससे ज्यादा से ज्यादा सफल हो सकूं। मैं जो कुछ अब हूं उससे मेरी तसल्ली नहीं है। फिर क्यों न मैं उस ओर चल पड़ूं जिस ओर मेरी रुचि है। बेसक कुछ लोग ऐसे हैं जिनको अपनी मर्जी के माफिक काम मिल जाता है। वे भाग्यशाली हैं। मेरा ऐसा भाग्य नहीं है; न सही। मैं अपना भाग्य अपने आप ही क्यों न बना लूं ?

यह खयाल गलत है कि उम्र बहुत हो गई, अब क्या हो सकता है ? चालीस का हो कर सादी पढ़ा-लिखा और बड़ा कवि हो गया। चर्चिल को लीजिये—उसने चालीस की उमर में तस्वीर बनाना सीखा। महात्मा गांधी ने साठ में उर्दू लिखना-पढ़ना सीखा। उम्र का सवाल कोई सवाल नहीं है। ताकत का पता चल जाने पर, और रुचि की जुगत मिल जाने पर, बड़ी से बड़ी उम्र में बदलाव हो सकता है। मैं अपनी उम्र की परवाह न कर अपनी लगन की बात सुनूंगा। अपने उत्साह की ओर कान दूंगा। अपनी ताकत का अंदाजा लगा; नये मैदान में कूदूंगा और कूदूंगा।

हां, यह ठीक है कि मै अपने को पहले खूब हिला-जुला कर जांच

लूंगा, अपनी समझ मे कोई कोर-कसर न रहने दूंगा। मेरी जाच सख्त से सख्त होगी। पर जाच के बाद किसी भी राम की परवाह किये बिना मैं अपने ८ ` काम में जुट जाऊगा और जुटा रहूगा। उससे हटने का नाम न लूगा। मेरे कदम को मेरे रास्ते से कोई न डिगा सकेगा। मेरे सामने मेरी महनत का फल होगा, वह आप ही मुझे आगे की ओर ढकेलेगा और नतीजा अच्छा निकलेगा ही। क्योंकि वह काम मेरा छांटा हुआ, मेरे मन का होगा। तन-मन दोनो जिस काम में जुट जाते हैं वह अच्छा ही हुआ करता है। अतरात्मा उसमे खुश रहता है। उसकी खुशी काम की चाल को चौगुनी कर देती है। थकाव को पास नहीं आने देती; उदासी दूर रहती है। मन खूब लगता है, चेहरा कमल की तरह खिला रहता है। घर के और गैर सभी खुश होकर आकर्षित होते हैं। वैरी तब अपनी राय बदल डालते हैं; बैर छोड कर दोस्त बन जाते हैं।

काम होने को, हजारों तरह के हैं। पर उनको दो किस्मों में बाटा जा सकता है। चाणक्या शैली, और चन्द्रगुप्त शैली। यानी विचार शैली और क्रिया शैली। यों तो शुद्ध विचार अथवा क्रिया शैली होती ही नहीं,पर जिस शैली मे जिसकी ज्यादती रहे वह शैली उसी नाम से पुकारी जाती है। चाणक्य, विचार शैली का काम कर सकता था, वह चन्द्रगुप्त की जगह ले लेता तो असफल होता या उसे दूसरा चाणक्य खोजना पड़ता, तभी सफल होता। मैं अपनी जाच करने पर अगर अपने में दोनों शैली का बल समान रूप से पाऊंगा तो भी दोनो काम कभी हाथ में न लूंगा। एक काम अपने साथी पर छोड़ूंगा और दूसरा अपने लिये। हरेक को देह और मन दोनों मिले जरूर हैं। पर आम तौर पर दोनों समान रूप से बलवान् नहीं होते। अगर वे ऐसे हों तो फिर वह आदमी समाज के काम का नहीं रह जाता। वह अकेला पड़ जाता है। वह न अपना भला कर सकता है न समाज का। क्योंकि वह किसी को साथी बनाना पसंद नहीं करता।

राम और कृष्ण तो अकेले रहे ही नहीं, महावीर, बुद्ध, मूसा, ईसा, मोहम्मद कोई भी अकेले नहीं रहे। जैसे ही ज्ञान की आखें खुली ये

समाज के अखाड़े में उतर पड़े। अकेले नहीं, साथ में अनेकों को लिये।

विचार-शील भी लफल होते हैं और कर्म-शील भी। पर दोनों को ही एक दूसरे की जरूरत रहती है। विचारशील को जगत । जो सफलता मिलती है, वह उस के साथ काम करने वाले गौण-कर्मशील के द्वारा ही मिलती है। मदिर का कलश दूर तक चमकता है, पर मन्दिर की बुनियाद में पड़े पत्थरों के बल। कर्मशील का भी यही हाल होता है, वह कर्म में इतना रत रहता है कि उसके विचार और कर्म मे कोई व्यवधान ही नहीं रह जाता। सोचा और किया। उसके साथ काम करने वाला गौण विचारशील उसके विचारों को क्रमबद्ध करता है, वैज्ञानिक रूप देता है; अब तक चले आये ज्ञान से मेल बिठाता है। तब कहीं कर्मशील का कर्म जगत के गले उतर कर फलता-फूलता है।

दोनों बनने की बात दिमाग से निकाल कर, मुझे यही करना होगा कि मैं दोनों में से एक बनूं। क्या बनूं ? यह तय करना है। तय करना आसान है। माने लेता हूं कि मुझे बनना है विचारशील।

सवाल उठते हैं:

* क्या मैं इतना ज्ञानी हूं कि एक ही विषय पर तरह-तरह की शंकायें खडी कर उनका समाधान ढूंढ निकालूं ?
* क्या मैं किसी भी भाषा का पूरा पंडित हूं (ज्ञानी तो कई भाषाएं चाहिये) जो अकेले में बैठ कर उन भाषाओं के ग्रंथो में शंकाओं का उत्तर ढूंढ सकूं ?
* क्या मेरा मन इतना वश में है कि जब चाहूं तब सब कामों से हट कर एक ही विचार में लग सकूं ?
* क्या मैंने कुटुम्ब और दोस्तों का मोह, कम न कर लिया सही, काबू में कर लिया है।
* क्या मैं, मुझसे पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर, बहुत सोच समझ कर और संयत भाषा में देता हूं।
* क्या मुझे घरेलू, सामाजिक, राजनीतिक उलझनों से झुंझलाहट

न आकर सुलझाने मे मजा आता है।

* क्या मेरी भाष्यों से बच कर सूत्रों मे रुचि है ? यानी मैं थोड़े मे बहुत समझने की रुचि रखता हू।
* क्या क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे वश मे हैं, कहीं जल्दी तो नहीं उबल पड़ते ?
* क्या मेरे मन से पूजा स्तुति की इच्छा, अगर मर नहीं गई, तो बहुत कम हो गई है ?
* क्या मै झगड़े-टंटों से दूर रहना पसन्द करता हू ?
* बुरे से बुरे दृश्य को देख कर उस मे फंसने की बजाय उस के विश्लेषण मे लग जाने की काबलियत क्या मुझ मे है ?

ये सब योग्यताएं मुझ मे हैं ? मै विचारशील बनूंगा। जो दो चार नहीं है, उन्हें पैदा कर लूंगा। माने लेता हूं कि मुझे कर्मशील बनना है—

सवाल उठते है :

* क्या मैं इतना साहसी हू कि न्याय की अवज्ञा होते देख, जान जोखम मे डाल, उसके प्रतीकार में लग सकूं ?
* क्या मुझे कोई भी कला पूरी तरह से आती है (आनी तो कई चाहियें) जो मै समाज में कहीं भी अपनी जगह बना सकूं ?
* क्या मै बिना घबराये-उकताये, खुश रहते हुए, हमेशा दोस्तों, रिश्तेदारों से घिरा रह सकता हूँ ?
* क्या मुझ में दुश्मनों को भी दोस्त बनाने की काबलियत है ?
* क्या मैं सभा चतुर हूं, और क्या मुझे तुरन्त उत्तर सूझते हैं ?
* क्या मैंने धन से इतना मोह छोड़ दिया है कि उसे औरों की खातिर बखेर सकूं ?
* क्या मुझमें खूब बोलने और लिखने की काबलियत है ?
* क्या मै अपने और अपने साथियों के अभिमान की रक्षा कर सकता हू ?

* क्या मै इतना बलवान् और शस्त्रविद्या का जानकर हू जो वक्त पड़ने पर अपनी और अपने साथियो की रक्षा कर सकूं ?
* क्या जो मै सोचता हूं उसे तुरन्त नहीं तो जल्दी ही कर डालता हू ?

ये सब योग्यताए मुझ में हैं ? मैं कर्मशील बनूंगा। जो दो चार नहीं हैं, उनको पूरा कर लूंगा।

मैंने यह तो जान लिया कि मेरे अन्तरात्मा का लक्ष्य क्या हो सकता है; पर इतने से काम न चलेगा। मुझे अपनी खोज और करनी होगी।

मुझे एक चीज पसद आती है, औरों को दूसरी—यह क्यो ? मुझे एक खाना पसंद, दूसरों को वह बिलकुल नापसन्द। यह क्या ? मुझे जो कपड़ा भला मालूम होता है, दूसरे उसकी ओर आख उठा कर भी नहीं देखते। इतना अन्तर ! मै जिस पद को, लालच दिये जाने पर भी पसंद न करूं, दूसरे उसे लालच देकर पाने के लिये लालायित हैं। इतनी अरुचि-रुचि !

मैं दूसरों की ओर क्यों देखूं ? मेरी रुचिया जो हैं, वह क्यों हैं ? क्या उनका अध्ययेन मेरे लिये काम का होगा ? हा, बड़े काम का होगा। मेरी रुचिया मुझे मेरे अन्तरात्मा तक पहुचाने में बड़े काम की साबित होंगी। यह भी हो सकता कि मैं वहां पहुच कर कुछ और ही हो जाऊ।

अच्छा, तो यह कहना चाहिये कि कुछ दिनों इस बात का लेखा रख कर देखा जाय कि कब मै क्यों बहुत सुख मानता हूं और कब मैं क्यो बहुत दुःख अनुभव करता हूं ? यों धीरे-धीरे मै अपने सारे मनोभावों की एक सूची तैयार कर लूंगा। फिर तो मैं एक सेकिंड मे अपने को अपने सामने खड़ा कर अपनी जांच कर लिया करूंगा।

: चार :

मैं जो हूं, हूं

मैं जो कुछ हू, उसे मान लेने मे झिझक क्यों ? आखिर उसी के बूते तो आगे की राह बनानी होगी ।

माने लेता हूं, जैसा मैं हू, उससे वह नहीं होने का जो मे होना चाहता हू। तो या तो मै अपना काम बदलू या अपने को बदल कर काम के लायक बनाऊं । जो कुछ मै बढा, बढ़ा तो उससे भी आगे जा सकता है, पर उतना नहीं जितना मन चाहता है। मन चाहता है, तो अपने को बदलना भी मुश्किल नहीं रहेगा। हा, यह रास्ता सीधा वेशक है कि अपने को बिना बदले आगे की राह सोची जावे ।

मैं हूं क्या ? करना क्या चाहता हू ? परिस्थितिया क्या हैं ? मै- काम, परिस्थिति—तीनों बदले जा सकते हैं। क्या उसको बदले बिना मन चाहा काम हो सकता है ? हो तो सकता है। कैसे ? टुकड़ों से। जैसे एक मन उठाना है, उठता नहीं, तो पाच-पाच सेर उठाऊं ।

'मैं जो कुछ हू, हू,' का यह मतलब नहीं है कि अब मै हाथ-पर-हाथ रख कर बैठूंगा। मतलब है इससे कि आगे बढने से न रुकूंगा और मनचाहा काम भी करता रहूंगा। मै वह करूंगा जो मैं चाहता हू, नहीं तो 'मैं' को बदलना होगा। ऐब को ऐब मानना ऐब की जड खोदना है।

ऐब अपनी आखों में खटक कर कहीं रहे, मुझमें न रह सकेगा। मुझ में ही रहना चाहे तो अपने को बदले।

मुझे आगे बढ़ना है। अपनी कुरेद मैं इसीलिए कर रहा हू। मुझे पता लग गया है कि मैं ठूंठ हूं, तो ठूंठ थोड़े ही बना रहूगा। ठूंठपने के मानने का मतलब ही यही था कि ठूंठ न रहूं। पर मैं जो ठूंठ रहते हुये भी अपने को ज्ञानी समझ रहा था, इतना ठूंठपन तो दूर हो ही गया। इतना खो दिया तो और भी खोया जा सकता है, बदला जा सकता है। है यह ठूंठपन क्या? इस जड़ता को मैंने आप नहीं अपनाया। यह तो मुझ पर लादा गया है। जड़ता मेरा स्वभाव नहीं।

यह ठीक है कि मै सबका सब नहीं बदल सकता, न सही। उसे निबाहूगा, उससे मिलकर रहूंगा। उससे न तंग हूंगा, न उसे तंग करूंगा। मेरे रास्ते में जो मुश्किलें आयेंगी, उन्हें मै सहूंगा, और आसानी से सह लूंगा। क्योंकि मैंने अपने बाकी से सुलह करली है, मेरा बाकी मदद न करेगा तो घसीटेगा भी नहीं।

मैं अपने को पालूं, या बदलूं, हर हालत में मुझमें एक बड़ी तबदीली होगी। कुछ विचार छूट जायेंगे, कुछ बदल जायेंगे। कुछ आदतें न रहेंगी कुछ कमजोर पड़ जायेंगी, कुछ अपना रूप बदल लेंगी। कुछ तरीके ज्यों के त्यों रह कर न निभ सकेंगे और बदलेंगे ही। यह कुछ टोटे का सौदा तो है नहीं जो दुःख होगा। यह तो फायदे का सौदा है, खुशी ही होगी।

अपने को मान लेने और अपने को बदलने में बहुत थोड़ा अन्तर है। मान लेने में बदलना रहता है और बदलने में मान लेना। मानना और बदल ही डालना और फिर आगे चलना, बदलना कहलाता है। मानना, जरूरी बदलाव करना, करते काम की रीति-नीति बदल डालना, चाल तेज कर देना, मान लेना कहलाता है। मान लेना और बदलाव न करना, मान लेने का ढोंग नाम पाता है। अपनी कुरेद में ढोंग को जगह ही नहीं। बचपन में आफत में पड़ कर की हुई, नशे की और अंध-विश्वास की वजह से हुई भूलों को मान लेना, मान लेना नहीं है। यह तो मान लेने से पहले

मान ली जाती हैं। मान लेने से यहा यह मतलब है कि अपनी कुरेद के बाद अपने सब के सबको मान लेना। मेरे मान लेने में करने की बात भी है, बदलने की बात भी है। क्योंकि मुझे तो आगे बढ़ना है। किसी भूल को स्वीकार कर लेना और माफी मांग लेना और बात है और मालूली बात है। अपनी कुरेद में उसका कुछ भी मोल नहीं। जो भूल मुझसे हुई है, उसका बीज मुझमें है, उसका स्रोत मुझमे है। चाहे वह दस बरस में एक ही बार फले या उगे। यह मान कर उसको निभाना ही स्वीकार कर लेना या मान लेना है।

मैं तो अपनी कुरेद, सच्चा पुलिस अफसर और पक्का जज बन कर करूंगा। जो फैसला होगा उस पर अमल करूंगा। मेरे फैसले में मुझे पुरोहित बनकर रहने की हिदायत भी रह सकती है और सिपाही, किसान, कारीगर, बन कर रहने की भी। मेरे फैसले को मुझे मानने मे इन्कार तो होगा ही नहीं, आगे बढ़ने की खातिर, अपने सुपुर्द काम को करने का उल्टा उत्साह रहेगा। अपना सोचा काम किसे नहीं भाता?

अपना भला, समाज का भला, दुनिया का भला, मैं तो इसी में समझाता हू कि मै समाज की इमारत मे एक ईट की हैसियत से अपनी ठीक जगह आप ही ढूढ़लूं। मैं जानदार इमारत की जानदार ईट हू, और समझदार भी हू। मुझे दूसरे जहा चाहें वहा न रख सके इसी मे मेरा भला है।

मैं आगे बढ़ते-बढ़ते यह सोच क्या गया। मै ईट बन कर वहीं का वहीं रह जाऊंगा, आगे का रास्ता बद हो जायगा? नहीं-नहीं, ईट और मकान की बात तो समझने के लिए कही है। इस जानदार इमारत की ईट जानदार होने से इमारत को ढाये बिना ऊपर नीचे होती रहती है। यह तो मै रोज देखता हूं। मैं मकतब में पढ़ता था फिर अग्रेजी स्कूल में पहुच गया। मेरा एक दोस्त नाई था फिर वह दारोगा हो गया। एक मोची डाक्टर बन गया। अपने को मान लेने से पहले, चाहे कुछ नीचे आना पड़े, पर बाद में ऊंचा जाने मे बड़ी आसानी होगी और जल्दी भी।

सैंकडों की आसानी सैंकडों की समझ कर सैंकड़ों का काम उठाये। हजारों की समझ कर लिये काम को छोड दे। सीधा रास्ता यही है। मुझे इसी को अपनाना है। लखपती होने को यही राह गई है। दूसरी राह धोखे की है! आगे बंद भी है।

मुझ में बुद्धि खूब है, पर खून देख कर चक्कर आने लगते हैं। तब सर्जन बनने की क्यों सोचूं? प्रोफेसर क्यो न बनूं? सर्जन बनना है तो अपने को बदलूं। ठीक यही है कि प्रोफेसर बनने का फैसला करूं और खून देखकर चक्कर की बात ध्यान में रक्खूं। दूर तो उस बुराई को भी करना है।

मेरी आत्मा मे अनन्त बल और ज्ञान भले ही हो पर वह है तो बन्द ५॥ फुट की देह मे, उसको सिर तो मिला है कुछ छटाक का ही! यह दोनो बहुत कम ही घट-बढ़ सकते हैं। इनको इतना बडा ही मानने मे भला है। इतने ही कद और इतने ही दिमाग के आदमी बहुत कुछ कर गये हैं, कर रहे हैं और आगे करते रहेंगे। फिर दिक्कत कहा? छोटे पाव वाला खरगोश उनको जल्दी-जल्दी उठाकर लम्बी टागों वाले ऊंट की पकड़ में नहीं आ सकता और दौड़ में निकल सकता है। मै भी अपनी देह और दिमाग को यह चाल सिखाऊंगा।

बनियों की तरह मैं हिसाब के गुर न जानता सही और जल्दी न जोड़ पाता सही, तो क्या मै कागज पैंसिल से भी अपना हिसाब पूरा न करूंगा और बनिये का मुहताज ही बना रहूगा? यह न होगा। मुहताज होना छोड़ूंगा तभी गुर सीख पाऊंगा। मैं चाहूंगा तो क्यो न आयगा? और मै चाहूगा क्यो नहीं? मेरी कुरेद है किस लिये?

जितना मुझे आता है उतना तो मेरे पोतों को आता है। तो विद्या में बूढे होने को तो अभी बहुत कुछ बाकी है। मैं पढ़ूंगा और बढ़ूंगा।

मै डेढ़ मन बोझ उठा सकता हूं। मैं तीन मन बोझ उठा कर पिच मरने का काम न करूंगा। मै 'मैं' बनूंगा, यह और वह न बनूंगा। बड़ी बड़ी स्कीमे गढ़ने से, बड़े-बड़े आदर्श रखने से, बड़ी-बड़ी बातें मारने से

मैं बड़ा नहीं हो सकता। छोटी सी चीज को बड़ा बनाकर ही बड़ा बन सकता हूं। आम लगे आम के एक बड़े गुद्दे को, अपने आंगन में ला गाढ़ कर मैं एक ही दिन कच्चे-पक्के आम खा सकता हूं। एक दो दिन ही पड़ौसियों को अपने आंगन में आम के पेड़ होने का धोखा दे सकता हूं। न बरसों आम खा सकता हूं और न दिनों पड़ौसियों को धोखे में रख सकता हूं। मैं तो आम का छोटा सा पौदा ही जड़ समेत लाऊंगा। इसमें पड़ौसियों का नुकसान नहीं और सचमुच आम का पौदा होने के नाते मेरी तसल्ली रहेगी। वह तसल्ली ही मुझे वह सुख देगी जो गुद्दे लगाने से नहीं मिल सकती थी। मैं अपने को पहचान कर जरूर नफे में रहूंगा। वह नफा मुझे आज ही न होगा। अब मेरा झगड़ा किसी से न रहेगा। रास्ते की अड़चनों पर खीजने का काम खत्म हो जायगा। उनकी ओर मेरा ध्यान न जाकर अपने को ठीक करने की ओर ही रहेगा।

मेरी जीवन-नदी बही चलेगी, बही चलेगी। कोई बीच में टीला आ जायगा, उसका चक्कर काट कर चलेगी, बहाव में फर्क न आयगा। उस टीले को काटने में सारी ताकत न लगा कर आगे बढ़ेगी और रोज की मामूली ताकत से उसे काटती भी रहेगी। राह में आगे छोटे कंकर-पत्थर की उसे कोई परवाह न होगी। जो दो कदम चलेंगे उन्हें दो कदम चलने देगी। जो नहीं चलेंगे उन्हें वहीं पड़ा रहने देगी। सागर तक पहुंच कर ही वह एक दम लेगी। अवसर मिलने पर बाढ़ पैदा कर पहाड़ों को काट डालेगी, टीलों को नेस्तनाबूद कर देगी। कंकर-पत्थरों को सागर के दर्शन करा देगी।

मेरी करेंट जारी है, नदी की बाढ़ तो एक ख्याली लहर है।

: पाच :

हिये की कैसे खुले

●

अन्धा होना इतना बुरा नहीं जितना कि हिये की आखों का फूटना, या खुली न होना। 'तेरी हिये की भी फूट गई क्या ?' यह वाक्य घरों में खूब काम में आता है। काम मे लाने वाले चाहे समझा न सके, पर इस का मतलब ठीक-ठीक समझते वे जरूर हैं। सबूत ? ठीक अवसर पर उस को बोलते हैं।

'कैसे खुले ?' का उत्तर देने से पहले यह बता देना ठीक होगा कि इसके खुल जाने से लाभ क्या होगा ? लाभ के लालच में अगली पक्तिया शौक से पढ़ी जायेगी।

लाभ एक नहीं, अनेकों होंगे। रोते बालक को हंसा सकोगे, हंसते को रुला भी सकोगे। गुस्सा करते को हंसा सकोगे, और हंसते को गुस्सा दिला सकोगे। रूठे को मनाना बाये हाथ का खेल हो जायगा। चाहो तो विज्ञापनबाजी के उस्ताद बन सकोगे। विज्ञापनो के धोखे से बचना तो कुछ बात ही न रह जायगी। दार्शनिक का खेल जब चाहो खेल सकोगे। मित्रों, पड़ोसियों, रिश्तेदारों की कमियों को चुटकी बजाते जान जाया करोगे। इतना ही नहीं तुम यह भी जान सकोगे कि तुम हो क्या ?

हिये की खुलने का अर्थ ही यही है कि तुम आप अपने को देखने लगोगे । प्राण-शास्त्र और प्राणी शास्त्र भी यह काम नहीं कर सकते । रसायन, ज्योतिष, सामुद्रिक का तो यह विषय ही नहीं । आख बन्द कर, हिये की ओर ही आख लगाने से ही हिये की खुलती है । यह बात भले ही लाल बुझक्कड़ की सी लगती हो, पर मानी आजकल के सब विद्वानों ने है । हिये को खोलने की एक विद्या ही खड़ी हो गई है । उसका नाम है 'मनोविज्ञान' अटपटा नाम है 'साइकोलोजी' ।

हिन्दुस्तान में ऋषियों के रचे शास्त्रों में कहीं-कहीं इसके सूत्र बिखरे पडे हैं । एक जगह वे इकट्ठे नहीं मिलते । यही हाल धनुर्विद्या का भी है । अपने पूर्वज महान धनुर्धारी थे, वैसे ही वे महान मनोवैज्ञानिक भी थे । उनकी हिये की खुली हुई थी । वे ऐसे-ऐसे काम करते थे कि उनको चमत्कार के सिवाय कोई नाम ही नहीं दिया जा सकता था । इस विद्या को सीखने में एक बड़ी मौज रहती है कि इसकी पोथी (पुस्तक) हरदम अपने पास रहती है । वह पोथी है 'मन' ।

मन एक सबक जन्म से ही सीख कर आया है—भूलें करना । इन्सान मुरक्कबुल खता (आदमी भूलों का पुतला है) यह कहना है अरबों का; टू अर इज ह्यूमन (भूलें करे वह आदमी) यह कहना है फिरंगियों का; तभी तो एक विद्या खड़ी हो गई ! वह सिखाती है कि भूलों से कैसे बचा जाए और यह भी सिखाती है कि भूल कैसे सुधारी जाय ? रोग भगाने का काम भी यह विद्या हाथ में लेती आ रही है । यह काम नया जंचता है पर है नहीं । आदि कवि बाल्मीकि से लेकर तुलसी, सूर तक यह काम करते रहे हैं । राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक, ताजुद्दीन तक इस काम के लिये मशहूर रहे हैं । आज भी बहुत हैं जो यह काम कर रहे हैं, पर बाजार में अभी उनकी कद्र न होने से उनको गिनाना ठीक नहीं । यह विद्या हमको अन्धेरी खान से निकाल कर, सोने की तरह मन्दिर की चोटी पर बिठा सकती है ।

हिये की खुलने से बोस—खोजीबोस, रवि बाबू—कवि बाबू, पी०सी०

राय—विज्ञानी राय, रमन—डाक्टर रमन और गांधी—महात्मा गांधी कैसे बन गये ? यह समझ में आ जायगा। रेडियो और हवाई जहाज की दुनिया का अनोखापन, अनोखापन न रह जायगा। शर्त यह तो जरूर है ही कि हिये की कैसे खुलती है ? उन बातों को पढ़ा ही न जावे पर जैसे लिखा है वैसे किया भी जाय। सबसे बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा का सबसे बड़ा जीना (सीढ़ी) है ही हिया (मन)। दर्शन हो या न्याय, भूगोल,खगोल हो या इतिहास, काव्य हो या साहित्य, नीति शास्त्र हो या अर्थ-शास्त्र,समाज-नीति हो या राजनीति, सभी में पहले मन को स्थान है। सबसे पहली विद्या ही यही है। हमारी सारी शोध और खोज की जड़ में सोचने की ताकत ही तो है। और सोचता है मन। सोचा कैसे जाता है, यह कला तो आनी ही चाहिये। जिन्हें यह कला नहीं आती, उनका समाज में कोई स्थान ही नहीं बन पाता। स्थान बने या न बने, जीवन का लुत्फ भी तो नहीं मिलता।

ज्ञान-विज्ञान सब की जड़ 'हिये की खुलने में है'। हर विद्या की जड़ मे हमारे अनुभव रहते हैं। अनुभन मन के सिवाय और होते ही किसे है ? जब मन को इतना महत्व प्राप्त है तब उसके बारे में कुछ न जानना या थोडा जानना कितनी बड़ी भूल होगी ?

यह जरूरी और सबसे पहली विद्या होने पर भी छोटे बालकों को नहीं सिखाई जा सकती। इसका कारण है, इसे सीखने के लिए आखें उलटनी पड़ती हैं। यानी अन्दर की ओर नजर डालनी पड़ती है। यह काम बच्चे नही कर सकते।

हिये की खोलने के लिये क्या-क्या सीखना होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यों दिया जा सकता है :

राम, रामायण उठा और उसे खोल कर उसके अक्षरों पर दृष्टि डालता है। वह सोचता और समझता है। उसका मन एक पलटा लेता है। उसे याद आती है यह रुचिकार चीज है या अरुचिकर। अगर वह उसे पहले-पहल पढ़ता है तो उसमें या तो अचरज जान पड़ता है या खीज। वह आगे पढने की कोशिश करता है, थक जाता है। तकलीफ से बचने

के लिए सो जाता है। फिर भी वह स्वप्न देखता है, भागता है, और स्वप्न को भूल जाता है। अन्तरात्मा (हिये, मन) में वह स्वप्न मौजूद है, हिये की खुली हो तो जाना जा सकता है।

रेखाकित सब मन की क्रिया हैं। यह क्यों होती हैं? अमुक ही क्या होती हैं? अमुक अवसर पर क्यों होती हैं? इत्यादि बातों का जानना ही इस विद्या को जानना है।

जैसा हो वैसा बन जाना, मन में यह एक बड़ा भारी गुण है। वह कोई भी रूप बना सकता है। उसका काम भी यह है कि जब जिन हालतों में हो वैसा ही बन जावे। उसके उस रूप बदलने के काम को 'बहुरूपी' नाम दिये देते हैं। यह दो तरह की होती है 'जाने और बेजाने'। रूप धरने के इन दोनों तरीकों में कोई भेद नहीं होता। जाने-बेजाने जो भी होता है सब एक ही तरह का होता है। जाने-बेजाने कहने का रिवाज सा पड़ गया है। असल में होता सब जान कर ही है। इस जाने-बेजाने में अगर चाहने को जोड़ लिया जावे तो कोई भी काम अनचाहा नहीं होता। चाहना के बिना मन कभी रहता नहीं। सोते-जागते चाह तो बनी ही रहती है। यों सब काम जानकर ही होते हैं।

चाहना दो तरह पैदा हो सकती है, भीतर से और बाहर कुछ देख सुन कर। भीतर की चीज का नाम है स्वभाव, प्रकार, रुचि, जरूरत या शौक इत्यादि। सुख-दुःख भी मन के काम पर बड़ा असर डालते हैं, उसको अलग नाम दिया जा सकता है।

जानकारी

मन जितने काम करता है, उस सब की जानकारी हमको नहीं होती। कुछ की होती है, बहुत की नहीं। असल में मन की अवस्था कुर्सी की तरह लकड़ी, बेंत या पाये-पीठ की, बैठक की तरह की बनी हुई नहीं है। मन की अवस्था के पाये पीठ हैं—भाव और मूर्त्तियां। जो शक्लें वह देखता है या

जो भाव मन में उठते हैं, उन्ही की वे बनी हुई हैं।

भाव हैं क्या ? किसी बाहरी क्रिया से हमारे ज्ञान तन्तुओं पर असर होता है, उनमें फड़कन पैदा होती है। पलौथी मार कर आसन पर बैठना और दांत भीच कर मुट्ठी बांधना, अपना अलग-अलग असर ज्ञान तन्तुओं पर डालेंगे। ज्ञान-तन्तु एक खास किस्म की नसें हैं। जो देह में वही काम करती हैं जो तार और तार के खम्भे देश में। देखने, सूंघने, सुनने, इत्यादि से हमको एक वेदना होती है। वह बड़े महत्व की चीज़ है। मनोभाव आत्म-जानकारी में बड़े सहायक होते हैं। उनकी सहायता से ही हम दूसरों को जान समझ सकते हैं।

यह तो साफ़ ही है कि वेदनाओ के सब असर जानकारी में नहीं आते, कुछ रह भी जाते हैं। हम ऐसी चोट खा सकते हैं जिनका हमें पता न लगे, हम ऐसी आवाजें सुन सकते हैं जिनकी हमें जरा भी याद न रहे, हम ऐसे दृश्य देख सकते हैं जो हमारे लिए अनदेखे से ही रह जाये, इत्यादि।

जानकारी जुड़ी हुई है अन्तरात्मा से। ध्यान देने के साथ-साथ वह आ जाती है। अब यह भी साफ हो जाता है कि ध्यान देने से ऐसी चीज़े भी समझ में आ सकती हैं, जो हम में हैं, पर हमने कभी ध्यान ही नहीं दिया था। आंखे खोल कर हम देख तो बहुत सकते हैं पर ध्यान बहुत थोड़े पर ही जा सकता है। कान, नाक का भी यही हाल है। बाहरी कोई तबदीली न होने पर भी हम बाहर की बातें जान सकते हैं, जैसे कपड़ों का पहने होना या जूते का काटना। हम कपडे पहने थे पर उसके पहने होने की ओर हमारा ध्यान ही न था। वास्तव में हर वक्त हमारा ध्यान बहुत थोड़ी ओर ही जाता है, ज्यादा का तो हमको पता ही नहीं चलता और वेदना होती ही रहती है।

मूर्त्तिया

हमारे अन्दर तरह तरह की शकलें बनती रहती हैं। अन्दर की तरफ़ निगाह डालने से वे भी दिखाई देने लगती हैं। यह तस्वीरें किस-किस में

कैसे बनती हैं ? एक अलग ही विषय है। कुछ विद्वान् इस तस्वीर बनने की बात को नहीं मानते । वे कैसे मन से विचार कराते हैं, पता नहीं। किसी के मन में शायद तस्वीर न बनती हो पर बहुतों के तो वैसा होता ही है। यह तस्वीरें अनेकों तरह की होती हैं, जैसे सुनने की, देखने की, सूंघने की, छूने की, गर्मी-सर्दी की, चिकने की इत्यादि। यह विषय जरा टेढ़ा है, पर जरा ध्यान देने पर सीधा बन जाता है। एक ही बात के सोचने में कोई दो आदमी एक ही तस्वीर नहीं बनाते। इसी से किन्हीं दो आदमियों के एक से स्वप्न नहीं होते। स्वप्न असल में विचारों की एक रील है, जो सोते में खुल जाती हैं। जागने से पहले की कुछ याद भी रह सकती है, अगर तुरन्त ही नोट करली जाय।

विचार

●

विचार है क्या ? इसका जवाब आसान नहीं, छोटा भी नहीं।

हमारे जीवन में हिल-मिलने का बड़ा गुण है। उसी के साथ-साथ सोचना शुरू होता है। मन काम में लगता है। कुछ भी क्यों न हो उसकी तस्वीर ही हमारे मन के सामने आती है। हमारा मन उस तस्वीर को याद रखता है और उन्हीं तस्वीरों में वह सोचता है।

शेर को एक मनुष्य शेर के मुंह से भी सोच सकता है, और उसकी शानदार पूंछ से भी, दूसरा उसे (शे...र) अक्षरों से, और तीसरा किसी और ही तरह। शेर के विचार तरह-तरह के होते हैं, पर वे कहलाते हैं शेर के ही विचार !

मनोभाव

●

मन के काम मनोभाव कहलाते हैं। भाव मन में ही उठते हैं और विलीन हो जाते हैं। वे स्टीम की तरह सूक्ष्म होते हैं और उसी की तरह

देह-रूपी भारी इञ्जन को गति-शील कर सकते हैं। मनोभाव अलग और साफ पहचाने जा सकते हैं। उनमें दिल बैठ जाता है, नब्ज़ धीमी पड़ जाती है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आंखे लाल हो जाती हैं, बदन कांपने लगता है इत्यादि। मनोभावों के आधार पर हुये अनुभव ही क्रोध, सच, प्रेम, अचरज इत्यादि नाम पाते हैं।

स्वभाव

●

अगर कोई जंगली जानवर हमारी ओर झपटे तो हम बचने के लिए तुरत भाग निकलेंगे। इस बच निकलने में हमारा स्वभाव सहायक होता है। भागने में मदद देने वाली देह की क्रियायें अपना काम शुरू कर देती हैं। जैसे दिल का धड़कना, जल्दी-जल्दी सास चलना इत्यादि। देह की इस तब्दीली का नतीजा होता है नये भाव का पैदा होना। आख में कुछ गिर जाने पर आख अपने आप पानी निकालने लगती है। हमें तकलीफ होती है, यही तो स्वभाव है। इन देह की वेदनाओं से ही मनोभाव का जन्म होता है। कुछ लोगों का कहना है कि मनोभाव, स्वभाव के साथ-साथ रहते हैं। भले ही उनका पता हमें न चले, अन्तरात्मा को उसका ज्ञान रहता ही है।

अन्तरात्मा

●

हमें अपने मन की असंख्य क्रियाओं में से बहुत कम का ही ज्ञान हो पाता है। सब का ज्ञान तो अन्तरात्मा को ही होता है। यूं बाहर का मन गौण रह जाता है। और मुख्य बन जाता है अन्तरात्मा यानी हिया। हिये तक कैसे पहुचना ही, इस लेख का विषय है। पहुंच भी जाये तो बताये कैसे ? मन की बोली, भाषा में ज्यों की त्यों सही लिखी जा सकती है।

हमारे अन्दर आत्मा तो एक ही है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा दो नहीं हैं, पर करें क्या ? भाषा के अधूरे होने से हमें दो टुकडे करने पड़ते हैं। गलत बयानी ठीक नहीं पर गलत बयानी सचाई तक पहुचने में मदद दे तो उसे काम मे लाना पाप नही।

अन्तरात्मा के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसमें अन्दाजे हैं। ठीक क्या है यह जानना कठिन है। अभी असम्भव भी माना जा सकता है ; पर यह तो समझा ही जा सकता है कि जो कुछ है आलंकारिक भाषा में है।

कोई-कोई मन को बल का नाम देते हैं। कोई उसको एक स्थान मे मानते हैं कोई दूसरे मे, कोई सारी देह मे। आत्मा क्या है, मन कहा और किस तरह है यह समझ में न भी आये पर इतनी बात तो ठीक ही है कि मन एक है पर उसके दो रूप हैं, एक वह जिसे वह स्वयं जानता है दूसरा वह जिसे हम भी जानते हैं और औरों को भी बता सकते हैं। इस-लिये उसके दो नाम रख लिये गये हैं एक बहिरात्मा और दूसरा अन्तरात्मा।

: छ :

मैं अब कहां पहुंच गया ?

देखने से पता चलता है कि मेरा एक उद्देश्य नहीं रहा। यह औरों के साथ हुआ या नहीं, मेरे साथ तो हुआ। मेरी उलझन को मुझे ही सुलझाना होगा। मैं बड़े उत्साह से एक काम में लगा था, पर थोड़े दिनों में ही वह सब ढीला पड़ गया। लगते वक्त तो ऐसा मालूम होता था कि उम्र इसी से कट जायगी, पर कट न पाये उसमें पाच बरस भी! दूसरे काम को भी उम्र भर न निभा पाया। अब मैं कैसे जानूं कि मैं क्या हू ? अपने को स्वीकार कर लेने से भी क्या मिलता है।

मैं देखता हूं कि एक ही आदमी की कई उमरें होती हैं। देह की उमर, मन की उमर, बालों की उमर, दातो की उमर, भावों की उमर, उमर की उमर। उमर की उमर से ही और उमरों का अन्दाजा लगाया जाता है, पर है यह भूल। सोलह बरस का एक लड़का लम्बाई में चार फुट, दूसरा चार-पाच फुट, तीसरा पाच फुट मिल सकता है। कोई-कोई बीस बरस का भी बोल-चाल मे बच्चा बना रहता है। बाल सफेद कभी भी हो जाते हैं। दातो के गिरने का भी यही हाल है। मनोभावों का तो कहना ही क्या ? काम करने में मनोभावों और देह की यदि एक उम्र न हो तो

सफलता बहुत कम ही मिलती है। मनोभावों की उम्र ही सच्ची उम्र होती है।

उम्र बढ़ने का अर्थ है आत्मा का मजना। आत्मा मजती है सोहबत से। मजी आत्मा के भाव और होते हैं; बेमजी के और। अच्छी सोहबत से आत्माएं जल्दी, बुरी सोहबत से देर में, और सोहबत न मिलने से बहुत देर में मज पाती हैं। यों ही भावों की उमर सब में एक-सी नहीं होती। मेरी भी शायद भाव की उमर छोटी रही होगी। तभी तो मुझे जल्दी-जल्दी काम बदलने पड़े।

जब मैं अपने मनोभावों की ओर नजर डालता हूं तो मालूम होता है, मैं चिड़चिड़ा हूं। जरा किसी ने मेरी मर्जी के खिलाफ बात कही और मेरा मुंह फूला। हंस-हंसी में बिगड़ जाता हूं। यूं मैं दूसरों को दुखी कर देता हूं, स्वय भी दुखी होता हूं। जब मैं जरा-जरासी बात पर बिगड़ जाता हूं और मुझे हरदम यही ध्यान बना रहता है कि और क्या कहेंगे ? तब मैं कितना ही बड़ा क्यों न होऊं बालक ही हूं।

तुर्रा तो यह कि मैं अपने चिड़चिड़ेपन को ही 'मैं' मान बैठा हूं और खुले तौर पर लोगों से कहने लग गया हूं—देखो जी ! मुझे छेड़ा न करो। मेरा स्वभाव जरा चिड़चिड़ा है। वाह ! यह हथियार मेरे हाथ खूब लगा। पर यह हथियार औरों पर वार न कर मुझ पर ही वार करेगा। अब लोग मेरी आलोचना करना छोड़ देंगे। यों मैं अपने ऐबों के जानने का दरवाजा बंद कर दूंगा।

मेरी यह भद्दी आदत एक रंग और लायगी। मैं अकेला पड़ जाऊंगा। या तो लोग मुझसे मिलना छोड़ देंगे, या मैं ही उनके पास जाना छोड़ बैठूंगा। फिर तो मेरी तरक्की ही रुक जायगी !

अब क्या किया जाय ?

लाओ, मनोभावों की जांच ही कर डालूं। जरा देखूं तो मेरी असली उम्र क्या है ?

महाकवि कालिदास का कहना है कि बढ़िया से बढ़िया कृति भी तब

तक अपने को बढ़िया नहीं जचती, जब तक दूसरे विद्वान् उसको बढ़िया न कहदें। इस उक्ति से मै अपने बचपन का समर्थन नही कर सकता। मैंने ऐसा काम भी कौनसा किया है, जिसके लिए मुझे दूसरों की राय की जरूरत हो ? मुझ मे एक आदत है । मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर कोई काम तब तक नहीं करता, जब तक कोई मेरी पीठ ठोकने वाला न हो। यह मेरी उमर वालों को शोभा नही देता। यह तो बचपन है। यह भाव, और मुझमें ! मै और का बैल न भी सही, पुचकार का बैल तो हूं ही। यह तो उंगली पकड कर चलना जैसा है। क्या उंगली पकड़ कर चलना मुझे शोभा देता है ? मतलब यह कि मैं अभी उतना बड़ा नहीं हूं, जितना दिखाई देता हू।

जरा-जरा सी बात पर दूसरों से भिड़ बैठता हूं। तुनक कर रूठ जाता हूं। दिनों बोल-चाल बंद कर देता हूं। ये सब बातें मेरी उमर को भली नहीं लगतीं। लोग मेरी उमर का खयाल करते हैं और मेरे सामने कुछ नहीं कहते। पर यह असम्भव है कि अकेले में मेरे इस बचपन के बारे में बातें न होती हों और मजाक न उड़ाया जाता हो !

मै जानता हूं कि मै इतना ही स्वार्थी हूं, जितना कोई भला आदमी हुआ करता है। बुरे मानों मे मैं स्वार्थी नहीं हू। लोग भी मुझे खुदगरज नहीं कहते। पर जब मैं यह चाहता हूं और वैसी कोशिश भी करता हूं कि औरों का काम पीछे हो, पहले मेरा होजाय तो मेरी गिनती स्वार्थियों मे हुए बिना कैसे रहेगी। पीछे आकर भी मैं यह क्यो चाहता हूं कि रेल का टिकट पहले मुझे ही मिल जाय। इस तरह के काम मैं रोज ही करता हूं। यह बचपन नहीं तो क्या है ?

नतीजा यह होता है कि जो आज मेरा दोस्त है, वह कल दोस्त नहीं रहता। आज जिससे दांत काटी रोटी है, कल उससे बोल-चाल भी नहीं रह जाती। ऐसा तो बालक किया करते हैं। अभी दोस्ती, थोड़ी देर में खुट्टी। अभी यह दोस्त, अभी वह। जब मै उमर भर के लिये दोस्त नहीं बना सकता, तब उमर भर का उद्देश्य कैसे बनाऊंगा ? यह बचपन छोड़े

बिना मैं कितना ही उमर में बड़ा होजाऊं, बच्चा ही रहूंगा ।

मैं शेखचिल्ली की तरह स्कीमें गढ़ता रहता हूं । उनको काम की शक्ल कभी नहीं देता । यह भी बचपन है । इन स्कीमों में चाहे शेखचिल्ली की तरह घी का घड़ा न फोड़ता होऊं पर समय तो बरबाद करता ही हूं । जोखम में जान डालने की बात तो कभी मन में आती ही नहीं । साहस की राह मेरी राह ही नहीं, हां साहस की राह के फल मैं जरूर चखना चाहता हूं । मैं बिना मरे स्वर्ग देखना चाहता हूं ! यह कमी दूर करनी होगी । मनोभावों को खुराक देकर मोटा ताजा करना होगा । नहीं तो मन की बढ़वार रुक जाने पर सब तरह की बढ़वार रुक जायगी ।

न कुछ पर बिगड़ बैठना, जरा में नाखुश होजाना तो मेरा स्वभाव ही हो गया है । तिस पर भी मैं अपने को बड़ा ही माने जाता हूं । यह खूब ! इस तरह की आदत को तो मुझे एक पल भर के लिये भी बर्दाश्त नहीं करना चाहिए । पर कर तो रहा ही हूं । आखिर लोग मेरे इन, नखरों को क्यों बर्दाश्त करें ? न मैं बालक हूं और न वे मेरे मा-बाप । करीबी रिश्ते-दार, दोस्त, बर्दाश्त कर सकते थे, पर वे तो बनाये ही नहीं ! और यह आदतें बनने ही कब देतीं ? अब रह गई जबर्दस्ती एक संगिन ! उसकी बर्दाश्त मेरे किस काम की ? उसकी बर्दाश्त उसे फायदा पहुंचाएगी, मुझे नहीं ।

मनोभावों की जांच का नतीजा निकला कि मैं अभी बच्चा ही हूं ।

बड़े बनने के लिये औरों पर नजर नहीं डालूंगा । उसके लिये भी अपनो ही कुरेद करूंगा । मैंने बड़ों को देखा है, बड़ों की सोहबत में रहा हूं, बड़ों की कथाएं सुनी हैं, वह सब मेरापन जानता है । वह मुझे पूछने पर जरूर बतलायगा ।

राम बड़े थे । उनकी जब कोई आलोचना करता था तो वे बिगड़ते न थे । ध्यान से सुनते थे । उससे कुछ सीखते थे । मेरी मा मेरी आलो-चना पर तनिक भी नहीं बिगड़ती थी । पिता जी और गुरुजी का भी यही हाल था । ओह ! मैं खुद भी तो अपनी छोटी बहन की इस आलोचना

पर कि 'मैं बुरा हूं, बिगड़ने की जगह सोच में पड जाता था और उसका कहना ठीक ही जंचता था। बड़े अपने पर की टीका से सबक लेते हैं; बिगड़ते नहीं। यह गुण मुझमें है। इसको खुराक देनी होगी।

नौकर के भाग जाने पर पिताजी नहीं घबराये थे, माताजी को कुछ चिन्ता हुई थी। पिताजी चौके में रोटी बनाने गये ही थे कि माताजी में दम आगया और उन्होंने उठकर सारा काम सम्भाल लिया। मुझमें भी फुर्ती आगई थी और काम में लग गया था। आ पडने पर पिताजी घबराते न थे, और चुस्त हो जाते थे। मानो उन्होने पहले से ही तैयारी कर रक्खी हो। राम के वनवास के समय लक्ष्मण को जोश आया था, राम को नहीं। सीता तो साथ ऐसे चलदी, मानों यात्रा करने जा रही हों। आ पडने पर न घबराना बडों का काम है। मैं भी तो सफर में चौबीस घन्टे रेल के एक ही डिब्बे में बैठ लेता हूं। और वह भी अनजान के साथ।

हनुमानजी राम के सदा मित्र रहे। सुदामा और कृष्णजी की दोस्ती का हाल मैंने पढ़ा है। मेरे पिता के भी एक दोस्त थे। उमर भर साथ निभाया। पिताजी के मरने पर मुझे जीते जी बेटा ही मानते रहे। बड़ों के यही माने हैं। मैं कुछ भी होऊं मेरी भगिन मुझे प्यार किये ही जाती है। वह बड़ी है, मैं छोटा हू। वह बड़ों का-सा काम करती है, बडी है। मैं भी तो बचपन से आजतक अपनी देह को अपनी ही समझे हुए हूं और अपनी मा मुझे कितनी प्यारी है। बडी बहिन भी कम प्यारी नहीं। मुझमें निरन्तर प्यार का गुण तो है, उसको खुराक की जरूरत है, दूंगा।

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' कहावत में व्यंग है। इसीलिए 'कुशल' शब्द के माने बुरे हो जाते हैं। मैं तो उपदेश में कुशल होने को तरसता हू। दूसरो को सलाह देने में कुशलता के माने ही यह हैं कि मैं इस बात का पूरा ख्याल रक्खू कि उनके मन को कोई ठेस न लगे, उनको मेरी राय ठीक जंचे और मेरी आलोचना कडुवी न मालूम हो। पर यह कला मुझे कहा आती है? इसके बिना मेरी शुमार न समझदारों में हो सकती हैं, न बड़ों में। यह कला मुश्किल नहीं है। जल्दी ही आजायगी।

दुनिया दिन दुगुनी और रात चौगुनी तरक्की कर रही है। मुझे उसका साथ देना ही होगा, नहीं तो मैं पीछे पड़ जाऊंगा। पर जब मैं अपने को को टटोलता हूं तो देखता हू कि जिस काम को मै बरसो से करता आया हू, उसे वैसे ही कर रहा हू। यह क्यों? इस तरह इस बढ़ती दुनिया में कैसे काम चलेगा? अपने कामों मे नये ढङ्ग लाने ही होंगे। नये विचारों को कद्र करनी ही होगी। जब मै आज की दुनिया मे रह रहा हू तब मैं कल की दुनिया वाला बन कर कैसे रह सकता हू? यह तो मुझ में बड़ी ज़बरदस्त कमी है। इसको दूर करने मे ही मेरा भला है।

हा, तो मुझे पता चला कि मेरे मनोभाव उस उमर के नहीं हैं, जिस उमर का मैं खुद हू। अब मुझे चाहिए कि मै वह काम करूं जो मेरी उमर के लोगों को शोभा देते हैं। इनके बिना न मुझको सफलता मिल सकती है और न सुख। यदि इनको मै पा भी गया तो वे टिक न सकेंगे।

जितना मै अपने में गहरा जाता हू, उतना ही बुरा पाता हू। पर इससे क्या मै साहस खो बैठूंगा? कभी नहीं। मैंने अपनी कुरेद की है हिम्मत बढ़ाने के लिए है। वह घटाने का काम थोडे ही करेगी। उससे मुझमे काम करने की ताकत आयगी। मैं तो अपनी कुरेद कर नई इमारत खड़ा करना चाहता हूं। मुझे बुनियाद खोद कर देखना ही होगा। कच्ची बुनियाद पर बड़ी मंज़िल बना बैठा तो पछताना पडेगा। मै अब पछताने से बच जाऊंगा।

मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि अब तक मैं अपनी शक्ति के लिये सिर्फ छिलके से काम लेता रहा, और यही समझता रहा कि यह छिलका ही मैं हू। आज तो मै गूदे तक पहुंच गया, जिसे मे यह समझे बैठा था कि यह मेरे पास है ही नहीं। इतने दिन मैं अपनी ताकत को बेकार टाले रहा, इसके लिये पछताऊ भी क्यो? आज पता चला, आज ही मे अपना रवैया बदलूंगा।

अपनी ताकत न जानने से मेरा नुकसान हुआ है, सही। पर और तरफ तो मै तरक्की कर ही गया हू। अब मेरी ताकत और आज तक की तरक्की मिलकर इतने दिन की कमी को जल्दी ही पूरा कर लेगी।

: सात :

आत्म-मंभाई

हमारी आत्मा साफ नहीं है, इतना ही नहीं, वह इतनी मैली है कि उसको माजने की जरूरत है ।

आप मुझसे अलग, मैं आप से अलग, यो हम सब अलग-अलग हैं। इस का नाम है अलगपन। अलगपन को कुछ लोग व्यक्तित्व, इनफरादियत या इनडिविजुएलिटी भी कहते हैं। यह अलगपन सब में मौजूद है।

अलगपन के बारे मे कुछ का यह कहना है कि यह अलगपन ऐसा है, जैसे बूंद का अलगपन, जो पानी मे मिलकर पानी में ही घुल मिल जाती है। कुछ का कहना है कि नहीं, यह अलगपन सदा कायम रहता है।

इस अलगपन की बात हमने यो कही कि आत्म-मंभाई में लगने वाले अलग-अलग लोगो ने ऐसी दो अलग-अलग बाते हमारे सामने रखी हैं।

इस जानकारी से आत्म-मंभाई मे कोई रुकावट नही होती और न होनी चाहिये ।

आप किसी तरह सोचते हैं, मै किसी तरह सोचता हू। आपकी बात सब सुन लेते हैं, मेरी बात कोई नहीं सुनता। आप से कुछ लोग डरते हैं,

मुझे कुछ लोग डराते हैं। यों आप और मैं अलग-अलग हैं। इस तरह का अलगपन भी सब में मिलता है। यह खास तरह का अलगपन 'खास-पन' कहलाता है, जिसे 'विशेषत्व' 'पुरुषत्व' 'शख्सियत' या 'परसनालिटी' भी कहते हैं।

इस खासपन के बारे में कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। एक का कहना है—यही पुरुष या परमात्मा है; दूसरे का कहना है—यही आत्मा है; तीसरे का कहना है—यही अहंकार है; चौथे का कहना है—यही अलगपन की पूरनता का रूप है, यानी यही पूरनता है : पांचवें का कहना है—यह अलग कोई चीज नहीं है, पांच भूत मिल कर जो पुतला बना उसी का यह नतीजा है।

यह पांचवा अपनी बात को दूसरों के मन में बिठाने के लिये यह दलील देता है कि प्रकृति यानि कुदरत में ऐसा आए दिन होता रहता है। कोई भी दो चीजें मिलकर एक तीसरी चीज बन जाती है। आज के ऐटम-वादियों ने तो नये-नये तत्त्व बनाने भी शुरु कर दिये हैं, जैसे प्लूटोनियम, क्यूरियम आदि। यह पांचवा इस दलील के जोर पर खासपन को बहुत मामूली, खमीर जैसी चीज तो समझता है, पर उसको आदमी तक पहुचाने में इतना पेचीदा बना देता है कि यह शक होने लगता है कि कहने वाला खुद भी ठीक ठीक समझ रहा है या नहीं।

अलगपन और खासपन को समझे बिना आत्म-मंझाई में लगना खतरे की चीज है।

इन दो पन में से खासपन ही हमारे काम का है। यही आत्मा के ज्यादा निकट है। इसी को समझ लेना चाहिये। यह खासपन असल में आत्मा ही है, पर मैला बहुत है। मैली आत्मा को अगर कोई अहंकार कह बैठे या खमीर कह बैठे तो बुरा ही क्या करता है? आज खासपन ने जो रूप ले रखा है वह परमात्मा के निकट वाला नहीं हो सकता। वह तो देह के निकट वाला ही हो सकता है। मैली आत्मा माटीवादियों, जड़-वादियों का दिया 'खमीर' नाम ही पा सकती है। जर्मन डाक्टर निटशे ने

इस को आदमी के भीतर का 'अहंकार भरा अलगपन' (ईगो इस्टिक इनडिविजुएलिटी) कहा तो ठीक ही कहा। जो मारधाड़ में आत्म-पूरनता माने, जो दुनिया पर छा जाने की फ़िकर में मस्त होकर जी चाहे कर डालने मे आत्म पूरनता माने, वह 'अहंकार भरा अलगपन' नाम नहीं पाएगा तो और क्या पायगा !

हिन्दू-दर्शन ने इस अलगपन और खासपन को अपने ढंग से अलग समझा है। उसपर अगर अमल किया जाय तो दुनियां मे चारो ओर अमन ही अमन दिखाई पडे। उस दर्शन को दलीलो से झूठा साबित करना तो अमन चैन को लतियाना है। उसको दलीलों से साबित करना कि वह दर्शन हम को अहंकार का पाठ देता है, दर्शन के साथ अन्याय करना है। हिन्दू-दर्शन का निचोड़ है, 'एक अनेक मे समाया है और अनेक एक में, यानि सत्य सब में और सब सत्य मे।

खासपन एक आदमी के अनोखेपन का सबूत नहीं है। वह सारे आदमियों के अनोखेपन का सबूत है। उसी खासपन से तो हम आदमी और जानवर को अलग-अलग कर पाते हैं।

हिन्दुस्तान का इतिहास बताता है कि मुद्दत से इस देश में दो तरह की विचार धारायें बहती आई हैं। एक ज्ञान-धारा और दूसरी अनुभव-धारा। इन्हीं का दूसरा नाम ब्राह्मन-संस्कृति और श्रमन-संस्कृति है। ज्ञान-धारा अलगपन पर जोर देती है, खासपन को बहुत कम छूती है। अनुभव-धारा खासपन पर जोर देती है, अलगपन मे समाई रहती है। ज्ञान-धारा और अनुभव-धारा के दूसरे नाम हैं, निश्चय और व्योहार।

अकेला निश्चय ब्राह्मनधारा समाज को निगाह मे रखते हुए बड़ा खतरनाक है। अकेला व्योहार यानी श्रमनविचार समाज में उथल-पुथल तो मचा सकता है, बहुत काम भी कर सकता है, पर यह टिकाऊ नहीं हो सकता। अनुभव के लिये समाज और समाज के आदमियों की जितनी ज़रूरत होती है, उतनी ज्ञान के लिये नहीं। लोक-सग्रह के लिये अनुभव ज़रूरी है। समाज की रक्षा के लिये अनुभव ही काम करता है।

खासपन की पूरनता के लिये यानी आत्म-सम्भाई के लिये घर छोड़कर जंगल में रहना तो पड़ता है पर वह हरेक के लिये जरूरी नहीं। घर छोड़ने का इतना ही महत्त्व है जितना सांस बाहर छोड़ने का। सांस बाहर छोड़ना तो जरूरी है, पर सांस छोड़े रखना जरूरी नहीं। उसको फिर अंदर भी लेना पड़ता है। ठीक इसी तरह अनुभव के लिये यानी आत्म-संभाई के लिये समाज से अलग रहना जितना जरूरी है, उतना ही समाज में घुलमिल कर रहना भी जरूरी है।

समाज से अलग रहकर आत्म-विश्वास बढ़ाया जाता है, सोचा-समझा जाता है। पर इतना भर तो अनुभव के लिये काफी नहीं। उस सोचे-समझे पर अमल करने से आत्म-संभाई पूरी होगी। उस पर अमल करने के लिये समाज की जरूरत है, समाज के साथ रहने की जरूरत है। समाज में रह कर, अपने सोचे समझे पर अमल करके ज्ञान को बल मिलता है; निश्चय का रूप सामने आ जाता है। सांस अन्दर खींचने और बाहर निकालने की तरह अनुभव या आत्म-सम्भाई के लिये कभी समाज से अलग रहना पड़ता है और कभी उसमें घुल मिल कर।

समाज से अलग होकर अलगपन जागता है और खासपन विचार में लग जाता है।

अब खासपन अपने भीतर की सारी शक्तियों को बुलावा देता है। उनके आने पर, उनकी मदद से, अपने भीतर बैठे सत्य को जानने की कोशिश करता है। उनको जान कर, अपने मन, वचन, कर्म में उनको घुला कर, समाज के काम के रूप में जाहिर करता है। उसके विचार, वचन और कर्म सत्य के कवच में घुलकर उसको निडर बना देते हैं। अब मौत से उसको कोई डर नहीं रह जाता, शक्ति बेहद बढ़ जाती है, मानो मोटर में बिजली का तार जोड़ दिया गया हो।

मन, वचन, कर्म की समता से उसका हरेक काम इतना पका हो जाता है कि उसको अब इस बात का ध्यान ही नहीं रह जाता कि उसके

कामों का नतीजा क्या होगा । नतीजे की जिसे परवाह नहीं उसके लिये हार जीत कैसी ?

इसी तरह की मन वचन, कर्म की तल्लीनता का नाम है 'ईश्वरार्पन' ।

रहे क्रोध, मान, माया, लोभ—यह तो ऊपर की रीति से किये अभ्यास के बाद बेदम हो जाते हैं । इस वक्त आदमी मे काम करने की ताकत बे हिसाब बढ़ जाती है ।

उसे अपनेपन का ध्यान नहीं रहता । इसी को कुछ लोग कहते हैं कि 'वह तो ईश्वर के हाथ का औज़ार भर रह गया है ।' इसी अवस्था का नाम है:—"मै सब मे और सब मुझमे ।"

भागवद्गीता का यही सन्देश और यही निचोड है । आत्म-मंझाई की कला पर इससे बढ़ कर और क्या कहा जा सकता है । गीता जो उपनिषदों का निचोड है, गुस्से को ठण्डा करती है, मानको ढाती है, मोह का नाश करती है, लालच की जड काटती है । उस गीता से न जाने कैसे कोई यह मतलब निकाल बैठता है कि उस मे भगवान ने अर्जुन को लडाई का उपदेश दिया ।

यह ठीक है कि आत्म-मंझाई मे आज का समाज आड़े आता है । आज का समाज निरा स्वार्थी बना हुआ है । जल्दी ही या तो उसको सुधरना होगा या किसी मे मिल जाना होगा । सुधार इसके सिवाय क्या हो सकता है कि अब एक सब के लिये रहना सीखे और सब एक की रक्षा के लिये तैयार रहे ।

समाज के लिये न जीकर, जो अपने लिये जीता है, वही पूजा, पैसा-प्रतिष्ठा का भूखा होता है । अपने मतलब को पूरा करने के लिये वह सारे स्वाग रचता है, तरह-तरह के रूप धरता है । आज इसी वजह से सिपाही सिपाही है, आदमी नही । पुजारी पुजारी है, बनिया बनिया है और कारी-गर कारीगर है, आदमी कोई भी नहीं । यह क्या बात है कि जो कल दारोगा था, आज दारोगा न रहने से दो कौड़ी का भी आदमी नहीं रहता ? असल में वह जब दारोगा था तब आदमी नहीं था, अपने दारोगापन से पूजा,

प्रतिष्ठा, पैसा कमाने में लगा था। यही हाल आज वजीरों का है। अगर दारोगा या वजीर ने निष्काम कर्म किया होता तो जीते जी उनकी इज्जत समाज में बनी रहती। दारोगा और वजीर अपने ओहदे पर रह कर आजादी का अर्थ भूल जाते हैं। वह समाज से अलग-थलग रहने को आजादी मानते हैं, यही घमण्डनगर जानेवाली सड़क है। जहा आजादी गुलामी का रूप ले लेती है। जो एक यह समझता है कि समाज के साथ उसका आजादी का रिश्ता है, वही एक सच्चे माने में आजादी है। आपसी व्योहार में छोटे-बडे ओहदों के नाते दूसरे से एक का रत्तीभर डर, मन भर आजादी को खा सकता है।

खासवाद नाम से पच्छिम में एक नया दर्शन खड़ा हो गया है। पच्छिम के लोग मन-माटी के दुत्तवाद से ऊब गये हैं। क्योंकि अब तक वहा या तो यह माना जाता था कि आदमी बस मन (माइण्ड) है या यह माना जाता था कि आदमी बस माटी (मैटर) है। या यह माना जाता था कि आदमी बस मन-माटी (माइण्ड-मैटर) का पुतला है। खासवादी कहते हैं आदमी न मन है, न माटी है और न मन माटी। वह है पुरुष। इस विचार-धारा का नाम है खासवाद या पुरुपवाद। इस विचार धारा ने आदर्शवाद और माटीवाद को बहुत पीछे छोड दिया है। यह विचार धारा हिन्दू-दर्शन धारा से काटी हुई एक नहर ही है।

यहा विचार और कर्म का रिश्ता समझ लिया जाय। हम पहले विचारते हैं या कर्म करते हैं? इसका जवाब बहुत मुश्किल और बहुत आसान है। मुश्किल यों कि कोई कर्म ऐसा नहीं जिसके पीछे विचार न हो, कोई विचार ऐसा नहीं जिसके पीछे कर्म न हो। आसान यों कि कर्म सामने है, विचार आख के परे। इसलिये कर्म जरूरी और पहले। कर्म को बडा समझना ही पडेगा क्योंकि कर्म मे विचार शामिल है। विचार तो अकेला और निकम्मा है। उसे बडा समझने से क्या फायदा। आदर्शवाद में यह बड़ा ऐब है कि बस सोचे जाओ, सोचे जाओ। इसलिये वह हमको माटीवाद की खाई में जा पटखता है। यहा कोई यह सवाल खडा कर सकता

हैकि कर्म तो सर से पैर तक माटीवाद है । अब ? इसी के लिये आया खास-वाद । वह कहता है न आदर्शवाद की बर्फीली चोटियां नापते फिरो, न मार्क्स के माटीवाद के समुन्दर में गोते खाते फिरो ।

मार्क्स जा घुसे इतिहास मे । वहां क्या था ? माटीवाद का नंगा नाच ! इतिहास की क्रान्तियों पर दर्शन के महल खड़े करना,जो रंग ला सकता है, वह मानव समाज के सुख से, रहने के क़ाबिल नहीं हो सकता । मार्क्स ने माटीवादी साधनों को इतना महत्त्व दिया कि नैतिक सिद्धान्त और चाल-चलन की सफाई एकदम पीछे जा पड़ी । दया, उदारता, हमदर्दी उसकी नजर मे पैसे की शाखे बनकर रह गईं । यह किसी हद तक ठीक है कि माटीवादी चक्र नैतिक विचारो पर अपना असर डालता है पर हमेशा और हर हालत में नहीं । अगर हर तरह से पैसे की बुनियाद पर नैतिक महल खड़ा होता तो गरीबी में यह महल गिर पड़ना चाहिये था । पर वैसा न कभी हुआ, न होता सुना । अकाल के मौके पर मां को अपने बच्चे वेचने की बात सुनी है, यह ठीक भी है, पर हजारों में एक । अपवाद उलटा यह साबित करता है कि नैतिक बल पैसे से कहीं ज्यादा बलवान होता है ।

जो आदमी अपने वक्त की समाजी और आर्थिक हालत में क्राति पैदा कर दे, लोगो के दिल में उथल-पुथल मचा दे, उनको गुलामियों से निकाल दे, वही इतिहास बनाता है और वही इतिहास को उलट-पुलट डालता है । बुद्ध, महावीर, ईसा से लेकर गाधी तक का इतिहास गवाह है कि यह लोग अपने वक्त की समाजी और आर्थिक अवस्था में पैदा नहीं, उसके खिलाफ खड़े हुए । अर्थ को नीचा दिखाकर इखलाक और ऊंचे चाल-चलन को राजगद्दी दिलवाई । समाज-सेवा को भावना और मानव सेवा की भावना जगाकर वह यह जादू कर पाय । मानवता या मानव प्रेम अपने आप में धोखे की चीज है, अगर उसकी तह में आत्मबल न हो ।

आत्मबल की पहचान है कर्म । क्योंकि कर्म आत्मबल का फल है । कर्म ऐसा होना चाहिये जो आदमी में सच्ची और निर्मल भावना पैदा करे। वह कर्त्तव्य को समझने और उसको पूरा करने में जुट जाय । आत्मा की

सभाई यही है कि हम समाज को ऐसी तालीम दें कि उनमें जब भावना की तरंगें उठें वह सच्ची और मानवोचित हों। हवा, पानी, रोशनी की तरह नेकी, ईमानदारी, अहिंसा, सच्चाई के दाम बुद्धि नहीं आक सकती. उसे तो मन ही आंकेगा। वह भावना की तराज़ू में ही तुल सकती है।

सुनिये, आत्मा किस तरह मंझेगी :

✓ है हिम्मत तो अपने अन्दर समा जाओ और अपने सत्य यानी राम को खोज लो।

✓ मन, वचन, कर्म से अपने कर्म के पालने में लग जाओ।

पालने में लगे कि मौत का डर भागा। जब यह गंदा डर गया कि सत्य सोचने, और कर डालने का बल आया। यह बल आया और अंदर बैठी सारी ताकतों का एका हुआ। एका हुआ कि आत्मा चमकी और विजय देवी के दर्शन हुए।

अब चिन्ता कैसी ? नतीजे से अब क्या मतलब ? कैसी जीत; किसकी हार ? सब मन, वचन, कर्म अपने राम को समर्पन।

अब मजी आत्मा के सामने है : सबमें राम और राम में सब यानी मैं सबमें और सब मुझमें।

०